

# अपरिग्रह परमो धर्मः परिग्रह परमो अधर्मः

(धार्मिक व वैज्ञानिक दृष्टि से)

(गद्य-पद्यमय)

-वैज्ञानिक श्रमणाचार्य कनकनन्दी

## पुण्य स्मरण

ग.पु.कों. सागवाड़ा में दीर्घ प्रवास व प्रवचनसार स्वाध्याय के उपलक्ष्य में

## अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

1. श्रीमती मंजूला श्री कान्तीलाल जी कोठारी, ग.पु.कों. सागवाड़ा
2. श्रीमती धन कुँवर श्री नरेन्द्र कुमार जी आजणीयाँ, ग.पु.कों. सागवाड़ा
3. श्रीमती चन्द्रकांता देवी श्री सुमति विलास जी पंचोरी, ग.पु.कों. सागवाड़ा
4. श्रीमती शांता देवी श्री बाबूलाल जी बोहरा, ग.पु.कों. सागवाड़ा
5. श्रीमती एकता श्री संजय जी सवोत, परतापुर
6. श्रीमती भानुमती श्री राजेन्द्र कुमार जी (वरदा वाले)
7. श्रीमती आनंदी बाई स्व. श्री राजमल जी एवं दीपेन्द्र देशी

ग्रन्थांक-253

प्रतियाँ-500

संस्करण-2016

मूल्य-101/- रु.

## सम्पर्क सूत्र व प्राप्ति स्थान

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 097832-16418

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

# वन्दे! श्री जिनवाणी

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : उड़िया-बंगला....., होंठों से छूलो....., हाँ तुम बिल्कुल ऐसे हो.....)

जननी..जननी..जननी..(जननी)...वन्दे! श्री जिनवाणी...

सर्वज्ञ द्वारा/(से) निसृत वाणीSSS गणधर गुन्थित वाणीSSS जननी...(ध्रुवपद)...

सर्वभाषा (मयी) दिव्य वदनी...अनेकान्त मय आपकी वाणी...

आत्मा से परमात्मा बनने की...अमृत निसृत/(निर्गत) वाणी...

सर्वज्ञ द्वारा...जननी...(1)...

अणु से (लेकर) ब्रह्माण्ड तक...अनादि से अनंत तक...

जीव से (लेकर) जिनेन्द्र तक...आपके द्वारा सर्व कथित...

सर्वज्ञ द्वारा...जननी...(2)...

व्यक्ति निर्माण..समाज ज्ञान...विश्व बन्धुत्व (व) शान्ति कथन...

न्याय राजनीति पर्यावरण...तव सत्य-तथ्य कथन...

सर्वज्ञ द्वारा...जननी...(3)...

अहिंसा-शाकाहार (व) स्वास्थ्य (विज्ञान)...गणित-कला (व) मनोविज्ञान...

भाषा-व्याकरण (व) संगीत ज्ञान...नीति-सदाचार मण्डित वदन/(आध्यात्मिक विज्ञान)

(तेरे द्वारा सभी वर्णन...)

सर्वज्ञ द्वारा...जननी...(4)...

सर्वभाषा (मयी) सर्वभाषिणी (जननी)...सुभव्य सन्तान (को) अमृतदायिनी...

विश्व उद्धारक हे! जगज्जननी...'कनकनन्दी' की प्रिय/(श्रेय) जननी...

सर्वज्ञ द्वारा...जननी...(5)...

## आचार्यश्री कनकनन्दी जी गुरुदेव का गुरुकुल शान्ति निकेतन-आनंद धाम-आध्यात्मिक विश्वविद्यालय

-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चाल : कोई जब तुम्हारा हृदय तोड़ दे.....)

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान परे...गहन-सूक्ष्म विषयों/(प्रश्नों) के उत्तर के लिए...

गुरुकुल कनक में है आओ...शिष्योंSSS

ये गुरुकुल है व्यापक...वैश्विक वाला...जहाँ/(तुम्हारे, सभी) के लिए...

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान परे...(स्थायी)...

ये शांति निकेतन है..आनंदधाम...आध्यात्मिक विश्वविद्यालय महान्...

जिज्ञासु-शोधार्थी हैं आते यहाँ...समाधान पाते है व्यापक महा...

विद्या-कला-ज्ञान-गुण प्राप्त कर...प्रभावना करते बहुराष्ट्रीय...

गुरुकुल कनक में है आओ...शिष्योंSSS...(1)...

इस आनंदधाम में सतत तप...स्वाध्याय व शोध नियमित चले...

आनंददायी है शिक्षा यहाँ...समन्वय/(जोड़ रूप) रूप है ज्ञान यहाँ...

प्राचीन से लेकर आधुनिक तक...यदि ज्ञान करना है सम्यक् तुम्हें...

गुरुकुल कनक में है आओ...शिष्योंSSS...(2)...

आत्मानुशासन अलौकिक यहाँ...समयानुबद्ध व व्यवस्थित...

गुणी जनों का होता अनुमोदन...अभिवन्दन व अभिनन्दन...

अन्त्योदय से लेकर सर्वोदय...‘सुविज्ञ’ जनों को मिले है सहज...

गुरुकुल कनक में है आओ...शिष्योंSSS...(3)...

## शान्ति निकेतन/आनंदधाम है आचार्यश्री कनकनन्दी जी का आध्यात्मिक विश्वविद्यालय

सृजयित्री-श्रमणी आर्यिका सुवत्सलमती

(चाल : आपकी नजरों ने.....)

है कनक गुरुकुल जगत् में...शान्ति निकेतन विद्यालय...

आध्यात्मिक विश्वविद्यालय...आनंद का धाम है...

है कनक गुरुकुल...(स्थायी)...

गुरु मुझे स्वीकार हैSSS आपका अनुशासनSSS

अनुशासन में रहकर हीSSS करूँ आत्म शासनSSS

आपकी निश्रा में रहकरSSS मिल रहा है सुख मुझेSSS

है कनक गुरुकुल...(1)...

विश्वविद्यालय के आचार्यऽऽऽ कनकनन्दी सूरीऽऽऽ  
पठन पाठन कराते हैऽऽऽ पाठक व श्री सूरीऽऽऽ  
कनक निकेतन में शान्तिऽऽऽ सतत मिलती है मुझेऽऽऽ  
है कनक गुरुकुल...(2)...

अध्यात्म विश्वविद्यालय मेंऽऽऽ सभी विधा का ज्ञान हैऽऽऽ  
अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तकऽऽऽ सूक्ष्म-गहन ज्ञान हैऽऽऽ  
स्वात्मा के ज्ञान से अबऽऽऽ ध्यान 'मैं' का ही धरूँऽऽऽ  
है कनक गुरुकुल...(3)...

देश-विदेश के सुविज्ञजनऽऽऽ आकर सूक्ष्म अध्ययन करेऽऽऽ  
ज्ञान ज्योति प्रकाशित होऽऽऽ प्रचार विश्व में करेऽऽऽ  
वात्सल्य धाम गुरु काऽऽऽ सदा ही जयवन्त हैऽऽऽ  
है कनक गुरुकुल...(4)...

धैर्यशाली न्यायवन्तऽऽऽ भाग्यवन्त है गुरुऽऽऽ  
आत्मा से परमात्माऽऽऽ बनने का बोध है शुरूऽऽऽ  
सरल सहज आनंदधामऽऽऽ मिल रहा आनंद मुझेऽऽऽ  
है कनक गुरुकुल...(5)...

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 08.01.2016, प्रातः तथा मध्याह्न 1.20

## आचार्य गुरु कनकनन्दी का आह्वान/स्वागत

-विजयलक्ष्मी, सुवत्सलमती

(चाल : बहारों फूल बरसाओ.....)

हजारों दीप जलाओ मेरे गुरुदेव आये हैं<sup>2</sup>  
आगन में फूल सजाओ मेरे गुरुदेव आये हैं  
कनकनन्दी गुरुदेव आये हैं

पूजन की थाल सजाओं अष्ट द्रव्यों से करो पूजन  
दुग्धादि से चरण पखारो कमल गुलाब से करो पूजन  
ज्ञान का दीप जलाओ...मेरे गुरुदेव आये हैं

सभी पंथ मतों को, अनेकान्त से मिलाने  
सभी भ्रमों को मिटाने स्याद्वाद कथन करते  
गुणग्राही बने हम, मेरे गुरुदेव आये हैं।

सत्यवादी है गुरुवर, हित-मित-प्रिय सत्य बोले  
वात्सल्यमयी है गुरुवर, ईर्ष्या घृणा से दूर रहते  
अहिंसा के पुजारी है ईर्या-पथ चल के आये हैं  
कनकनन्दी गुरुदेव आये हैं।

नग्न मुद्रा है जिनकी, अपरिग्रह धारी  
प्राणी मात्र का उद्धार चाहे, अन्त्योदय भाव भारी  
शुभोपयोग में ही रहे, कनकनन्दी गुरुदेव आये हैं।

आत्मानुभवी गुरुवर, 'मैं' का भी बोध कराते  
आत्म ध्यान में रत रहते, समता भाव धरे हैं  
दीपोत्सव आज मनाओ कनकनन्दी गुरुदेव आये हैं

## परिग्रह : महापाप क्यों?

(परिग्रह में सभी पाप गर्भित)

(धार्मिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से)

(चाल : अच्छा सिला दिया.....)

तीर्थकर ने कहा विश्व को, परिग्रह है महान् पाप।

जिस पाप में गर्भित होते हैं, अन्यान्य समस्त पाप।। (1)

इस सिद्धांत को अभी के वैज्ञानिक, कर रहे हैं सत्य-सिद्ध।

प्रदूषण से लेकर ग्लोबल वार्मिंग तक, होते परिग्रह से सिद्ध।। (2)

अंतरंग व बहिरंग रूप से, परिग्रह होते हैं जिन कथित।

चौदह अंतरंग-बहिरंग दस, संपूर्ण होते परिग्रह चौबीस।। (3)

तृष्णादि होते (है) अंतरंग परिग्रह, जिससे होता है बहिरंग।

चेतन-अचेतन-मिश्र रूप में, बहिरंग होते हैं परिग्रह।। (4)

सत्ता-संपत्ति आदि बहिरंग परिग्रह, हेतु मानव करते हैं विविध पाप।

लोभ-मद-मोह अंतरंग परिग्रह, शोषण आदि अनेक पाप॥ (5)

खान खोदते व प्रकृति नाशते, पशु-पक्षी मछलियों को मारते।

फैक्ट्री चलाते गाड़ी चलाते, भोग-उपभोग की सामग्री बनाते॥ (6)

इसी से प्रकृति का विनाश करते, पर्यावरण प्रदूषण भी करते।

ग्लोबल वार्मिंग इससे बढ़ता, जिससे वातावरण असंतुलित होता॥ (7)

अतिवृष्टि अनावृष्टि होती, अकाल भूखमरी अधिक बढ़ती।

ग्लेशियर पिघलते बाढ़ भी आती, समुद्र का जल-स्तर भी बढ़ता॥ (8)

भूकंप आता सुनामी बनता, जन-धन का भी विनाश होता।

ओजोन परत में छेद भी होता, अनेक रोगों का प्रकोप बढ़ता॥ (9)

पाप भी होता संताप बढ़ता, जीते जी ही नारकी बनते।

मरण उपरान्त नारकी बनते, तीर्थंकर अतः इसे पाप बताते॥ (10)

अतएव मानव संतोषी बनो, परिग्रह तृष्णा कभी न करो।

संयमी बनो सदाचारी बनो, 'कनक' चाहे धार्मिक बनो॥ (11)

## केवल धन से ही नहीं होता है : धर्म!

(धन के त्याग से होता है धर्म!)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : तुम दिल की धड़कन....., क्या मिलिये.....)

धन ही नहीं है धर्म स्वरूप, धर्म तो आत्म स्वभाव।

धन से ही यदि होता है धर्म तो, तीर्थंकर क्यों त्यागते वैभव॥ (टेक)

न्याय नीति से ही धन कमाकर, अपरिग्रह अणुव्रत भी पाले श्रावक।

तृष्णा कम हेतु उस धन को, दान दया पूजा आदि में करे उपयोग॥

किसी भी उपाय से धन कमाना, नहीं होता है निष्पाप काम।

असि मसि कृषि वाणिज्य सेवा, अथवा विविध कला आदि व्यापार॥ (1)

धनार्जन में जो होता है पाप, तथाहि समस्त गृहस्थ कामों में/(से)।

निश्चय से उपार्जित होते हैं पाप, पाप निरसन हेतु दान दयादि॥

केवल धन के विनिमय से ही, नहीं होता है धार्मिक काम।

यथा होटल-मेडिकल स्टोर्स के, व्यापार-विनिमय से न होता दान॥ (2)

धन हेतु यथा पढ़ाई न है ज्ञानदान, होटल के भोजन से न होता अन्नदान।  
औषधालय के व्यापार-विनिमय से, न होती वैयावृत्ति-औषधदान॥

तथाहि यदि धन-विनिमय हेतु या, नाम व सांसारिक स्वार्थ हेतु।

धन का यदि होता है निवेश, धर्म न होता, न होता पुण्य सातिशय॥ (3)

धन से ही यदि होता है धर्म, पञ्च परमेष्ठी न होते धार्मिक।

निर्धन मानव व पशु-पक्षी भी, नहीं हो पाते हैं कभी धार्मिक॥

धनी ही धन से धर्म को खरीदता, तथाहि धनदाता होता धार्मिक।

तब तो धर्म होती बाजारू वस्तु, भौतिक विनिमय की वस्तु आर्थिक॥ (4)

धर्म में अनुचित प्रयोग धन का, होता उत्पन्न विकार है धर्म में।

धन का उपार्जन व धर्म में प्रयोग, सम्यक् रूप से होना ही विधेय॥ (5)

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 02.01.2016, मध्याह्न 1.25

(एक बच्चा ने कहा कि मैं शांतिधारा नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि मेरे पास रुपये नहीं है। कारण कि इसके लिए बोली होती है-इससे भावित होकर यह कविता बनी।)

## धन से ही नहीं मिलते हैं-धर्म-ज्ञान-सुख-स्वास्थ्य

(चाल : सुनो-सुनो ऐ दुनिया वालों.....)

सुनो! सुनो! हे! मानव जाति, तेरी जाति की गलत प्रवृत्ति।

तुम मानते हो हर उपलब्धि, भौतिकता से होती है प्राप्ति॥ (1)

धर्म ज्ञान व सुख स्वास्थ्य, सब उपलब्धि में भौतिक मुख्य।

धन ही सभी का मूल आधार, ऐसी धारणा है गलती का मूल॥ (2)

धर्म तो आत्मा का शुद्ध-स्वभाव, समस्त भौतिक से परे भाव।

धन का उपयोग धर्म हेतु विधेय, धन ही न होता है धर्ममय॥ (3)

धन से ही होता है ज्ञानार्जन, धनार्जन ही है ज्ञान का प्रयोजन।

धारणा ऐसी भी नहीं है (पूर्ण) सत्य, बिना धर्म से भी मिलता ज्ञान॥ (4)

अवधि मनःपर्यय केवलज्ञान, आत्मविशुद्धि से मिलते ये ज्ञान।

धन से प्राप्ति कभी न संभव, आत्मज्ञान व भावश्रुत ज्ञान॥ (5)

निःस्वार्थी गुरु के उपदेश से, प्रवृत्ति प्रयोग व अनुभव से।

स्व-पर के भी गुण-दोषों से, ज्ञान मिले हैं ध्यान-अध्ययन से॥ (6)

ज्ञान-दान होता था भारत में, ज्ञानार्जन (भी) होता था निःशुल्क से।

जिससे भारत विश्वगुरु भी रहा, तीर्थंकर बुद्ध आदि का देश रहा॥ (7)

सुख (तो) आत्मा का है निज भाव, भौतिक परे यह शुद्ध-स्वभाव।

राग-द्वेष-मोह व ईर्ष्या से मुक्त, समता-शान्ति व तृप्ति से युक्त॥ (8)

भौतिक तो होता (है) जड़ स्वभाव, जड़ में न होता है सुख-स्वभाव।

धन में/(से) ही सुख मानना गलत, सिद्ध में होता है सुख अनंत॥ (9)

आत्मा स्वस्थ तो मन भी शांत, शरीर भी होता है सबल-स्वस्थ।

परम औदारिक देह श्रेष्ठ उदाहरण, भोगभूमिज के न होते रोग॥ (10)

सातिशय पुण्य स्वस्थ विचार, स्वास्थ्यप्रद आहार-विहार।

प्राणायाम योगासन व नित्य भ्रमण, स्वास्थ्यप्रद है दान दया ध्यान॥ (11)

प्रमुख उपायों का हुआ वर्णन, भौतिक उपाय तो होते हैं गौण।

यथा योग्य गौण का होता सहयोग, प्रमुख बिन गौण से न होता कार्य॥ (12)

जीवन हेतु यथा भोजन चाहिए, पानी व प्राण वायु आदि चाहिए।

तथाहि धर्म आदि में ऐसा होता, 'कनक' को आत्म-धर्म भाता॥ (13)

केवल धन से अनर्थ अधिक, यथा आधुनिक की समस्या अनेक।

सत् पथ में चलो हे ! मानव जाति, जिससे हो सर्वांगीण उन्नति॥ (14)

## “आवश्यकता से अधिक : वर्चस्व व प्रसिद्धि हेतु अधिक पाप करते हैं नीच-मानव”

(चाल : आत्मशक्ति....., तुम दिल की.....)

भोजन पानी व वस्त्र निवास हेतु जितना पाप करते हैं मानव।

उससे भी अधिक वर्चस्व/(प्रसिद्धि) हेतु पाप करते हैं नीच मानव॥ (ध्रुव)

वर्चस्व हेतु आक्रमण युद्ध लूट-पाट-हत्या बलात्कार करते।

सत्ता-संपत्ति प्रसिद्धि आडम्बर वर्चस्व हेतु मानव करते/(चाहते)॥

फैशन-व्यसन-दिखावा ढोंग, वर्चस्व हेतु भी मानव करते।



पढ़ाई नौकरी राजनीति तानाशाही वर्चस्व हेतु भी करते।। (1)

गाड़ी बंगला-यान-वाहन गृहोपकरण-वस्त्र-अलंकार।  
 विवाह उत्सव जन्म जयंती आदि वर्चस्व के भी है रूपांतर।।  
 धर्म से लेकर राजनीति तक वर्चस्व हेतु करते षड्यंत्र।  
 परिवार समाज राष्ट्र-अंतर्राष्ट्र तक वर्चस्व हेतु (से) होते संत्रस्त।। (2)

वर्चस्व के कारण इन सभी क्षेत्रों में होते है धोखाधड़ी व लंदफंद।  
 वाद-विवाद से लेकर फूट-लूट आक्रमण युद्ध व आतंकवाद।।  
 धर्म से लेकर राजनीति तक व्यक्ति से लेकर संगठन तक।  
 वर्चस्व हेतु परस्पर में होता वाद-विवाद से लेकर विनाश तक।। (3)

भरत-बाहुबली युद्ध से लेकर महाभारत के महायुद्ध तक।  
 वर्चस्व हेतु सिकन्दर के आक्रमण से लेकर द्वितीय विश्व युद्ध तक।।  
 हर देश के राजाओं के युद्ध व व्यापारी कवि कलाकार विद्वान् तक।  
 हर धर्म-पंथ-मत विचार वाले वर्चस्व हेतु संघर्षरत।। (4)

इसी प्रकार प्रसिद्धि हेतु भी करते उपरोक्त अयोग्य काम।  
 वर्चस्व हेतु प्रसिद्धि चाहिए, प्रसिद्धि हेतु भी वर्चस्व के काम।।  
 इससे न सही विकास होता, शांति-संतुष्टि भी नहीं मिलती।  
 स्व-पर-विश्व को क्षति पहुँचती इह-परलोक में दुर्दशा होती।। (5)

इसी हेतु ही अनेक राजा-महाराजा सेठ-साहूकार (भी) बनते है निस्पृह साधु।  
 समस्त प्रकार वर्चस्व प्रसिद्धि त्यागकर आत्म साधना से बनते विभु।।  
 सर्वोच्च सफलता व सर्वोच्च प्रसिद्धि मिलती है आध्यात्मिक शांति से।  
 इसी उपलब्धि हेतु कनकनन्दी, वर्चस्व/(प्रसिद्धि) त्यागा है नवकोटि से।। (6)

ग.पु.कॉ., सागवाड़ा, दिनांक 12.01.2016, रात्रि 7.43

## विषयानुक्रमणिका

अ.क्र	विषय	पृ.सं.
1.	वन्दे! श्री जिनवाणी	2
2.	आचार्यश्री कनकनन्दी जी गुरुदेव का गुरुकुल-शान्ति निकेतन- आनन्द धाम-आध्यात्मिक विश्वविद्यालय	2
3.	शान्ति निकेतन/आनन्द धाम है-आचार्यश्री कनकनन्दी जी का आध्यात्मिक विश्वविद्यालय	3
4.	आचार्य गुरु कनकनन्दी का आह्वान/स्वागत	4
5.	परिग्रह : महापाप क्यों?	5
6.	केवल धन से ही नहीं होता है : धर्म!	6
7.	धन से ही नहीं मिलते हैं-धर्म-ज्ञान-सुख-स्वास्थ्य	7
8.	आवश्यकता से अधिक : वर्चस्व व प्रसिद्धि हेतु अधिक पाप करते हैं नीच मानव	8
<b>अपरिग्रह परमो धर्मः - परिग्रह परमो अधर्मः</b>		
1.	हिंसा एवं अहिंसा का विश्वरूप-1	13
2.	हिंसा एवं अहिंसा का विश्वरूप-2	14
3.	धन विहीन सुख एवं आनन्द	15
4.	निर्ग्रन्थ पद की वांछा	16
5.	श्रावक के परिग्रह परिणाम अणुव्रत का प्रतिक्रमण	20
6.	धन्य हूँ मैं व अन्य धन्य जीव	21
7.	दान-सेवा-परोपकार से सुख व स्वास्थ्य लाभ	22
8.	आहार दान से विविध-ज्ञान व लाभ	22
9.	आहार < औषधि < अभय < ज्ञानदान	23
10.	अधिक सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि-भोग वाले होते हैं अधिक पापी-दुःखी	25
11.	पापों का विराट रूप : मिलावट	26
12.	भोगासक्त गृहस्थ सुखी क्यों नहीं?!	27
13.	इच्छा अनिवार्यता-भावना का स्वरूप एवं फल	29

14.	अन्धी आधुनिकता का कुफल	30
15.	मोही धन के लिए करता है सब अनर्थ	31
16.	अहिंसा-अपरिग्रह का सार्वभौम नियम	33
17.	मानवीय कलंक को मिटाने वाले महामानव अब्राहिम लिंकन	34
18.	राष्ट्रभक्ति-स्वतंत्रता तथा त्याग के प्रतीक : भामाशाह	34
19.	छूने से ही सोना बने	35
20.	सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी	36
21.	हिंसक वस्तु जो अहिंसक लोग भी प्रयोग करते	37
22.	परिग्रही-धनी से होता है प्रदूषण से प्रलय तक	38
23.	केवल भौतिक विकास अन्ततः विनाश के कारण	39
24.	हॉकिंग ने फिर चेताया : विकास और सुरक्षा के नाम पर हम विनाश को दे रहे हैं न्यूता	40
25.	विकास के लिए त्याग करो या दान	44
26.	परिग्रह पाप का कारण	46
27.	परिग्रह परिणामाणुव्रत के अतिचार	48
28.	नरक आयु का आस्रव	49
29.	अशुभ नामकर्म का आस्रव	56
30.	परिग्रह रूपी हिंसा	56
31.	मूर्च्छावान् ही परिग्रहवान्	58
32.	बाह्य परिग्रहधारी भी मूर्च्छावान्	59
33.	वीतरागी ही अपरिग्रही	60
34.	परिग्रह के भेद	61
35.	बाह्य परिग्रह के भेद	65
36.	परिग्रह की सत्ता-असत्ता में हिंसा-अहिंसा	65
37.	परिग्रह में हिंसा	70
38.	कार्य कारण सिद्धांत	71
39.	हिंसा अधिक से परिग्रह अधिक	72
40.	बाह्य परिग्रह त्याग का कारण	75

41.	शक्त्यानुसार परिग्रह का त्याग	75
42.	द्रव्य हिंसा से बंध भजनीय किन्तु परिग्रह से बंध अवश्य है	75
43.	परिग्रहधारी आत्म साधक नहीं	92
44.	श्रमण द्वारा उपकरण ग्राह्य है	99
45.	उपकरणों का स्वरूप	103
46.	उपकरण में भी ममत्व त्यजनीय	106
47.	धर्मच्युति (छेद) का स्वरूप	108
48.	निश्चय हिंसा का स्वरूप	109
49.	उपकरणों के सुप्रयोग एवं कुप्रयोग	111
50.	विपरीत ज्ञान से विपरीत मान्यता	116
51.	मानव की उपलब्धियों का सदुपयोग	117
52.	अनुपयोगी पत्थर को महत्व देती है : मानव जाति	118
53.	पावन भावना बिना सत्तादि अनिष्टकारी	120
54.	अंतरंग दूषित भावों की अभिव्यक्ति सत्तादि द्वारा	121
55.	परिग्रह का व्यापक स्वरूप	122
56.	परिग्रह त्याग का स्वरूप	140
57.	गृहस्थ धार्मिकों के कर्तव्य	177
58.	परिग्रह परिमाण अणुव्रत	186
59.	आध्यात्मिक भाव-व्यवहार बिना मनुष्य पशु से भी नीच	193
60.	परम सत्य व स्व-आत्मा को जाने-माने व प्राप्त करे विश्व मानव	194
61.	निराडम्बर चातुर्मास से हो रही धर्म प्रभावना	195
62.	मेरी कविताओं के विषय व उद्देश्य	197
63.	ज्ञानी-ध्यानी-स्वाध्याय तपस्वी गुरुवर की आरती	198
64.	शिक्षा गुरु आचार्य कनकनन्दी जी के लिए शिष्य आचार्यश्री कुमुदनदी जी का पत्र	199
65.	ज्ञान-विज्ञान-आध्यात्मिक संस्कृति जागृति की होली मनी	199

## “हिंसा एवं अहिंसा का विश्वरूप”-1

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., बिन गुरु ज्ञान नहीं है.....)

हिंसा अहिंसा के स्वरूप को जानो, भाव-द्रव्यरूप दोनों पहचानो।  
भावमय दोनों प्रमुख जानो, द्रव्यरूप दोनों भजनीय जानो।।

आत्म परिणाम है प्रमुख जानो, अशुद्ध शुद्ध परिणाम मानो।

भावहिंसा होती (है) अशुद्ध भाव, अहिंसा होती है शुद्ध स्वभाव।।

आत्म परिणाम हिंसन हिंसा, कषाय भाव ही निश्चय हिंसा।  
प्रमत्त भाव होना ही हिंसा, क्रोध-मान-माया-लोभ ही हिंसा।।

भावहिंसा के सद्भाव होने से, हिंसा का पाप लगता जीव में।

द्रव्यहिंसा को अन्यथा नहीं, हिंसा का भागी बनता वही।।

भावहिंसा सह द्रव्यहिंसा से, भाव-द्रव्यप्राण हनन होने से।  
हिंसा का दोष लगता जीव को, पापबंध हो जाता जीव को।।

कर्मबंध होता है भाव से, पुण्य पाप भी होता भाव से।

संवर निर्जरा होता भाव से, ध्यान व मोक्ष होता भाव से।।

भाव प्रधान है धर्म होता, भाव सहयोगी निमित्त होता।  
उपादान अनुसार कार्य होता, निमित्त सहयोगी उसमें होता।।

इसके दृष्टान्त कृषक-धीवर, ड्राईवर यात्री डाकू-डॉक्टर।

राम-रावण व कौरव-पाण्डव, आक्रमणकर्ता व देश रक्षक।।

महामत्स्य व तन्दुलमत्स्य, आचार्यपरमेष्ठी श्रेणी आरोहक।  
द्रव्यहिंसा बिन हिंसक कोई, द्रव्यहिंसा सह हिंसक न कोई।।

द्रव्यहिंसा ही यदि होती हिंसा, संसार में पालन न होती अहिंसा।

आहार विहार निहार श्वास से, द्रव्यहिंसा होती अहिंसक मुनि/(श्रमण जन) से।।

संघानुशासन करते आचार्य, दोष निवारण हेतु मुनिवर।  
श्रेणी आरोहण में निगोद मरते, तथापि हिंसा के भागी न बनते।।

भाव अहिंसक गृही जो/(जो जीव) होते, उनसे व्यर्थ/(अधिक) जीव न मरते।

पूर्ण अहिंसक मुनि जो होते, नवकोटी से जीव न मारते।।

अहिंसा अणुव्रती जो जन होते, पंचाणुव्रत भी पालन करते।  
अहिंसा सत्य शील व अचौर्य, पालन करते सहित अपरिग्रह।।

असत्य आदि से हिंसा भी होती, कषाय रूप ही परिणति होती।  
सप्तव्यसन भी हिंसा ही जानो, मिलावट शोषण भ्रष्टाचार सम्पूर्ण।।

अहिंसा है शुद्ध आत्म स्वरूप, हिंसा इसीसे विपरीत भाव।  
पूर्ण अहिंसा से सम्पूर्ण मोक्ष, 'कनकनन्दी' का परम लक्ष्य।।

## “हिंसा एवं अहिंसा का विश्वरूप”-2

(चाल : आत्म शक्ति से.....)

हिंसा-अहिंसा के स्वरूप को जानो, भाव-द्रव्य रूप दोनों पहचानो।  
भाव होता है दोनों में प्रमुख, प्रमाद सहित व प्रमाद रहित।।

आत्मपरिणाम हिंसन है हिंसा, निर्मल परिणाम होती अहिंसा।  
परिणाम प्रमाद होती है हिंसा, अप्रमाद भाव होती अहिंसा।।

क्रोध-मान-माया-लोभ भाव कषाय, हास्य रति अरति शोक भय।  
स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद सहित, पन्द्रह प्रमाद जुगुप्सा सहित।।

इन्हीं भावों से जब होता है जीव, निश्चय से होता हिंसक जीव।  
पहले स्व-आत्म हत्या करता, अन्य का वध भजनीय होता।।

तथाहि सप्त व्यसन भी हिंसा, चोरी झूठ कुशील भी हिंसा।  
परिग्रह से भी निश्चय हिंसा, मिलावट शोषण ठगी भी हिंसा।।

सत्य निषेध व असत्य कथन, अशिष्ट कथन व गर्हित कथन।  
सावद्य कथन व अप्रिय कथन, ये सब झूठ हैं हिंसा निदान।।

नवकोटि भेद से इन्हें करना, हिंसा के भेद-प्रभेद जानना।  
नवकोटि से इन्हें त्यागना, अहिंसा के पूर्ण भेद जानना।।

सत्य समता व क्षमा मार्दव, सरल-सहज व आर्जव भाव।  
संयम तप-त्याग आकिञ्चन्य, अचौर्य शीलादि अहिंसामय।।

भाव अहिंसा ही होती प्रधान, यह ही प्रमुख धर्म निदान।  
इसीसे न होता जीव हनन, द्रव्य हिंसा से भी न होता बन्धन।।

अनेकान्तमय है अहिंसा रूप, तथाहि होता है हिंसा स्वरूप।  
शुद्धात्मा स्वरूप है अहिंसा रूप, अशुद्ध परिणाम हिंसा का रूप।।

सत्य शिव स्वरूप अहिंसा रूप, इसीसे विपरीत हिंसा का रूप।  
स्वरूपाचरण है अहिंसा रूप, 'कनकनन्दी' का शुद्ध स्वरूप।।

## धन विहीन सुख एवं आनन्द

(चाल : आत्म शक्ति.....)

धन-सम्पत्ति है परिग्रह पाप जो है जड़ स्वरूप।  
जड़ में न होती चेतना कभी न होता है ज्ञानानन्द।।

शरीर इन्द्रियाँ मन भी जड़ है काम-भोग राज-पाट।  
जन्म-मरण व बुढ़ापा भी जड़ महल व ठाठ-बाट।।

ईर्ष्या द्वेष घृणा काम क्रोध मोह तृष्णा व आसक्ति मद/(भाव)।  
ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि विद्वेष चिन्तादि विकृत भाव।।

जड़ स्वरूप व विकृत भाव में न होता है ज्ञानानन्द।  
इसीसे आत्मा तो मलिन होता नशता है ज्ञानानन्द।।

ज्ञानानन्द हेतु तीर्थकर बुद्ध आध्यात्मिक साधुसंत जन/(गण)।  
चक्रवर्ती के भी वैभव त्यागकर, करते हैं आत्मध्यान।।

“जो राजेश्वरी सो नरकेश्वरी” त्याग से है (सर्वोदय)/मोक्षधाम।  
बहु आरम्भ व परिग्रह से नरक में होता गमन।।

परिग्रह हेतु सभी पाप होते, शोषण मिलावट चोरी।  
क्रोध मान मोह लोभ भी होते है हिंसा झूठ मायाचारी।।

इसी के बिना सत्ता सम्पत्ति व भोग-विलास न होते।  
राजतन्त्र या लोकतंत्र में पाप बिना कभी न होते।।

इसी के कारण राजा-महाराजा सेठ-साहूकार धनी/(जन)।  
ईर्ष्या तृष्णा दम्भ व्यसन कारण, होते हैं संत्रस्त मन।।

आत्म शान्ति हेतु अनेक हैं अभी देश-विदेश के जन।  
पर हित हेतु दान करते हैं, रखते न ज्यादा धन।।

बिल गेट्स व वॉरेन बफे, जुकरबर्ग स्टीव जॉब्स।  
अजीम प्रेमजी धन त्यागकर, पाते हैं आत्मसंतोष॥

मनोवैज्ञानिक तथा अर्थशास्त्री, अभी जो किया है शोध।  
सुखी होना है तो संतोषी बनो, तृष्णा में नहीं है सुख॥

वे हैं शोधकर्ता मार्था नसबम, अमर्त्य सेन, जॉन राल्स।  
माइकल सैण्डल, राबर्ट पुत नेम, गायत्री चक्रवर्ती, स्वी वॉक॥

भौतिकवाद व बाजारवाद से, लोप हो रहा है नैतिक मूल्य।  
व्यापार शिक्षा कानून राजनीति, धर्म में भी लोप है मूल्य॥

नैतिक बिना न सदाचार होता, सदाचार शून्य न धर्म।  
धर्म बिना न शान्ति मिलती, यह है सुख का मर्म॥

धर्म मोक्ष शून्य अर्थ काम से, कभी न मिलता सुख।

‘कनकनन्दी’ का आह्वान/(आशीष) विश्व को, पाओ हे! आत्मिक सुख॥

(यह कविता प्रो. पूर्व कुलपति नरेश दाधीच के लेख से भी प्रभावित है।)

## निर्ग्रन्थ पद की वांछा

इच्छामि भन्ते! इमं णिग्गंथं पवयणं अणुत्तरं केवलियं, पडिपुण्णं,  
णेगाइयं, सामाइयं, संसुद्धं, सल्लघट्टाणं, सल्लघत्ताणं, सिद्धिमग्गं, सेट्ठिमग्गं,  
खंतिमग्गं, मुत्तिमग्गं, पमुत्तिमग्गं, मोक्खमग्गं, पमोक्खमग्गं, णिज्जाणमग्गं,  
णिव्वाणमग्गं, सव्वदुक्खपरिहाणिमग्गं, सुचरियपरिणिव्वाणमग्गं, अवित्तहं,  
अविसंति-पवयणं, उत्तमं तं सहहामि, तं पत्तियामि, तं रोचेमि, तं फासेमि,  
इदोत्तरं अण्णं णत्थि, ण भूदं, ण भविस्सदि, णाणेण वा, दंसणेण वा, चरित्तेण  
वा, सुत्तेण वा, इदो जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परि-णिव्वाण-यंति,  
सव्व-दुक्खाण-मंतकरेंति, पडि-वियाणंति, सम्मणोमि, संजदोमि, उवरदोमि,  
उवसंतोमि, उवधि-णियडि-माण-माया-मोसमूरण-मिच्छाणाण-मिच्छा-दंसण-  
मिच्छाचरित्तं च पडिविरदोमि, सम्मणाण-सम्मदंसण-सम्मचरित्तं च रोचेमि,  
जं जिणवरेहिं पण्णत्तो, इत्थ मे जो कोई (राइओ) देवसिओ अइचारो अणाचारो  
तस्स मिच्छा मे दुक्कडं।



हे भगवान्! इस निर्ग्रथ लिंग की मैं इच्छा करता हूँ। यह निर्ग्रथ लिंग मोक्षप्राप्ति का उपाय साक्षात् कारण है। यह अनुत्तर है अर्थात् इस निर्ग्रथ लिंग से भिन्न दूसरा कोई उत्कृष्ट मोक्षमार्ग नहीं है। केवली संबंधी अर्थात् केवली कथित है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने में समर्थ है नैकायिक अर्थात् रत्नत्रय के निकाय से संबंध रखने वाला है, सामायिक रूप है, परम उदासीनता रूप तथा सर्वसावद्य योग का अभाव होने से यह ही सामायिक है। शुद्ध है। माया-मिथ्या-निदान शल्यों से दुःखी जीवों के शल्य का नाश करने वाला है। सिद्धि का मार्ग है, श्रेणी का मार्ग है, शान्ति और क्षमा का मार्ग है, उत्कृष्ट मार्ग है, मोक्ष का मार्ग, अरहंत-सिद्ध अवस्था की प्राप्ति का उपाय है, चतुर्गति भ्रमण के अभाव का मार्ग है निर्वाण का मार्ग है, सर्व दुःखों के नाश का मार्ग है, सुचारित्र के द्वारा निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग है, निर्विवाद रूप से निर्ग्रथ लिंग से मुक्ति होती है, मोक्षार्थी इसी लिंग का आश्रय लेते हैं यह लिंग सर्वज्ञ प्रणीत है, उस उत्तम लिंग की मैं श्रद्धा करता हूँ, रुचि करता हूँ, उसी को प्राप्त होता हूँ। इससे भिन्न अन्य कोई मोक्ष का हेतु नहीं है, न भूत में था और न भविष्य में होगा। ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य व श्रुत का ज्ञापक होने से इस निर्ग्रथ लिंग से जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त करते हैं, केवलज्ञान को प्राप्त कर मुक्त हो, कर्मों से रहित होते हैं। कृतकृत्य हो जाते हैं, सब दुःखों का अंत करते हैं। निर्ग्रथ लिंग के द्वारा ही समस्त पदार्थों को जानते हैं। 'मैं श्रमण होता हूँ, संयत होता हूँ, विषय भोगों से उपरत होता हूँ, उपशांत होता हूँ। परिग्रह, निकृति/ वंचना मान, माया, कुटिलता, असत्य भाषण, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र्य इनसे विरत होता हूँ। सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य में श्रद्धा करता हूँ। जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे गये जो तत्त्व है उन्हीं की मैं श्रद्धा करता हूँ। जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे गये जो तत्त्व है उन्हीं की मैं श्रद्धा करता हूँ इस प्रकार मेरे द्वारा दिन-रात्रि की क्रियाओं में जो कोई अतिचार-अनाचार हुए हो तत्संबंधी मेरे समस्त पाप मिथ्या हों।'

### परिग्रह त्याग पञ्चम महाव्रत का प्रतिक्रमण

अहावरे पंचमे महव्वदे सव्वं भंते! दुविहं-परिग्गहं पच्चक्खामि। तिविहेण मणसा-वचसा-काएण। सो परिग्गहो दुविहो अब्भंतरो, बाहिरो चेदि। तत्थ अब्भंतरं परिग्गहं-

मिच्छत्त-वेय-राया-तहेव हस्सादिया य छहोसा।

चत्तारि तह कासाया चउदस अब्भंतरं गंथा।।१।।

तत्थ बाहिरं परिग्गहं से हिरण्णं वा, सुवण्णं वा, धणं वा, खेत्तं वा, खलं वा, वत्थुं वा, पवत्थुं वा, कोसं वा, कुठारं वा, पुरं वा, अंतउरं वा, बलं वा, वाहणं वा, सयडं वा, जाणं वा, जपाणं वा, जुगं वा, गद्दियं वा, रहं वा, सदणं वा, सिवियं वा, दासी-दास-गो-महिस-गवेडयं, मणि-मोत्तिय-संख-सिप्पिपवालयां, मणिभाजणं वा, सुवण्ण-भाजणं वा, रजत-भाजणं वा, कंस-भाजणं वा, लोह-भाजणं वा, तंब-भाजणं वा, अंडजं वा, वोडजं वा, रोमजं वा, वक्कलजं वा, चम्मजं वा, अप्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, थूलं वा, सचित्तं वा, अचित्तं वा, अमत्थुं वा, बहित्थं वा, अवि वालग्ग-कोडि मित्तं पि जेव सयं असमण-पाउग्गं-परिग्गहं-गिण्हज्ज, णो अण्णेहिं असमण-पाउग्गं परिग्गहं-गेण्हविज्ज, णो अण्णेहिं असमण-पाउग्गं परिग्गहं, गिण्हज्जंतं वि समणुमणिज्ज, तस्स भंते! अइचारं पडिक्कमामि, णिंदामि, गरहामि, अप्पाणं वोस्सरामि।

अन्वयार्थ-( भंते!) हे भगवन्! (पंचमे महव्वदे) पंचम महाव्रत में (तिविहेण मणसा-वचसा-काएण) मन, वचन, काय तीनों प्रकार से (सव्वं) सभी (दुविहं परिग्गहं) दोनों प्रकार के परिग्रह को (पच्चक्खामि) मैं छोड़ता हूँ, त्याग करता हूँ। (सो परिग्गहो) वह परिग्रह (दुविहो) दो प्रकार का है (अब्भंतरो बाहिरो चेदि) अंतरंग और बाह्य। (तत्थं अब्भंतरं परिग्गहं) उनमें अंतरंग परिग्रह को कहते हैं-

(मिच्छत्त) मिथ्यात्व (वेय) वेद (राया) राग (हस्सादिया य छद्दोसा) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा (तह) तथा (चत्तारि कसाया) चार कषाय-क्रोध, मान माया लोभ (चउदस अब्भंतरं गंथा) ये 14 प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह हैं। (तत्थ) तथा (बाहिरं परिग्गहं) बाह्य परिग्रह (हिरण्णं वा) चाँदी, या (सुवण्णं वा) स्वर्ण या (धणं वा) धन या (खेत्तं वा) क्षेत्र/खेत या (खल) खलिहान या (वत्थुं वा) वस्तु या (पवत्थुं वा) प्रवस्तु या (कोसं वा) कोष या (कुठारं वा) कुठार या (पुरं वा) नगर या (अंत उरं वा) अन्तःपुर या (वलं वा) बल या (वाहणं वा) वाहन या (सयडं वा) शकट/गाड़ी या (जाणं वा) यान याने पालकी या (जपाणं वा) माला या (जुगं वा) जुआ या (गद्दियं वा) गड्डिय या (रहं वा) रथ या (सदणं वा) स्यन्दन या (सिवियं वा) शिविका या (दासी-दास) दासी-दास (गो-महिस-गवेडयं) गाय-भैंस-भेंड (मणि-मोत्तिय-संख-सिप्पि-पवालयां) मणि, मोती, शंख, सीप, प्रवाल (मणि भाजणं वा) मणि के बर्तन या (सुवण्ण-भाजणं वा) सोने के बर्तन या (लोहे

भाजणं वा) लोहे के बर्तन या (तंबभाजणं वा) ताँबे के बर्तन या (अंडजं वा) अंडज अर्थात्/रेशम के कपड़े या (वोंडजं) कपास के कपड़े या (रोमजं वा) ऊनी वस्त्र या (वक्कलजं वा) वल्कल अर्थात् छाल के वस्त्र या (चम्मजं) चर्म से बने वस्त्र या (अपं वा) अल्प या (बहुं वा) बहुत या (अणु वा) सूक्ष्म या (थूलं वा) स्थूल या (सचित्तं वा) सचित्त या (अचित्तं वा) अचित्त या (अमत्थु वा) यहाँ स्थित या (बहित्थं वा) बाहर स्थित ये सब बाह्य परिग्रह हैं (अवि वालग-कोडि मित्तं पि) इनमें बाल के अग्र भाग प्रमाण भी (असमण पाउगं परिगहं गिण्हज्ज पेव सयं) श्रमण के अयोग्य परिग्रह को स्वयं ग्रहण न करे (णो अण्णेहिं असमण-पाउगं परिगहं गेण्हाविज्ज) न श्रमण के अयोग्य परिग्रह को दूसरों से ग्रहण करावे, (णो अण्णेहिं असमण-पाउगं परिगहं गिण्हज्जंत वि समणुमणिज्ज) न ही श्रमण के अयोग्य परिग्रह को ग्रहण करने वालों की अनुमोदना करे (भंते!) हे भगवन्! (तस्स) उस परिग्रह त्याग महाव्रत में जो (अहिचारं) अतिचार लगा हो (पडिक्कमामि) मैं उसका प्रतिक्रमण करता हूँ (णिंदामि) मैं निंदा करता हूँ (गरहामि) गर्हा करता हूँ (अप्पाणं वोस्सरामि) आत्मा से उन दोषों का त्याग करता हूँ।

**भावार्थ**-अब चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत के बाद पञ्चम परिग्रह त्याग महाव्रत में हे भगवन्! सब बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्रिविध से, मन से, वचन से, काय से, मैं त्याग करता हूँ। वह परिग्रह दो प्रकार का है-बाह्य और अभ्यंतर। उसमें अभ्यंतर परिग्रह-

**गाथार्थ**-मिथ्यात्व 1, वेद 3, उसी प्रकार ही हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा, 6 और क्रोध, मान, माया, लोभ 4 कषाय, इस चौदह प्रकार अभ्यंतर परिग्रह है।

तथा बाह्य परिग्रह। उसका चाँदी, सुवर्ण, धन, गो आदि और ब्रीहि आदि धान्य, धान्य की उत्पत्ति का स्थान खेत, खलिहान, वस्तु, प्रवस्तु, कोश अर्थात् (भांडागार) कुठार, नगर, अन्तःपुर, बल-हाथी, घोड़ा, रथ और पदाति (पैदल) चार प्रकार सैन्यबल, हाथी, घोड़ा आदि वाहन, शकट याने बैलगाड़ी, यान याने पालकी, जपाणं-माला, जुगं-जुआँ, गड्डिय-रथ, स्यन्दन-शिविका दासी, दास, गाय, भैंस, मणि, मौक्तिक, शंख, सीप, प्रवाल, मणि के बर्तन, सोने के बर्तन, चाँदी के बर्तन, काँसा के बर्तन, लोहे के बर्तन या ताँबे के बर्तन, रेशमी वस्त्र, कपास के वस्त्र, रोमज-ऊनी

वस्त्र, छाल के वस्त्र, चर्म के वस्त्र, थोड़ा या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त, यहाँ स्थित या बाहिर स्थित ये सब बाह्य परिग्रह हैं। मेष के बाल के अग्र भाग प्रमाण भी श्रमण के अयोग्य ज्ञानोपकरण शास्त्र आदि और संयमोपकरण पीछी आदि को छोड़कर अन्य परिग्रह को स्वयं न ग्रहण करे, न श्रमण के अयोग्य परिग्रह को दूसरों से ग्रहण करावे और न श्रमण के अयोग्य परिग्रह ग्रहण करने वाले दूसरों की अनुमोदना करे।

हे भगवन्! इस परिग्रह त्याग महाव्रत संबंधी अतिचार का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ, अपने दोषों की मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ। हे भगवन्! भूतकाल में मेरे द्वारा जो भी राग-द्वेष, मोह के वशीभूत हो स्वयं-श्रमण के अयोग्य परिग्रह का ग्रहण किया गया हो, श्रमण के अयोग्य परिग्रह दूसरों से ग्रहण कराया गया हो तथा श्रमण के अयोग्य परिग्रह को ग्रहण करते हुए अन्यो की अनुमोदना की हो तो उसका मैं त्याग करता हूँ। यह पञ्चम परिग्रह त्याग महाव्रत सभी व्रतधारियों के सम्यक्त्वपूर्वक दृढव्रत हो, सुव्रत हो, मैं स्वयं और शिष्यगण इस महाव्रत में आरूढ़ हों।

### श्रावक के परिग्रह परिमाण अणुव्रत का प्रतिक्रमण

पडिक्कमामि भंते! वद पडिमाए पंचमे थूलयडे परिग्रहपरिमाणवदे:-  
 खेत्तवत्थूणं परिमाणाइक्कमणेण वा, धणधणणाणं परिमाणाइक्कमणेण वा,  
 हरिण्णसुवण्णाणं परिमाणाइक्कमणेण वा, दासीदासाणं परिमाणाइक्कमणेण वा,  
 कुप्पभांडपरिमाणाइक्कमणेण वा, जो मए देवसिओ (राइयो) अइचारो मणसा,  
 वचसा, काएण, कदो वा, कारिदो वा, कीरंतो वा समणुमण्णिणदो, तस्स मिच्छा  
 मे दुक्कडं।।2-5।।

हे भगवन्! मैं दूसरी प्रतिमा के अंतर्गत परिग्रह परिमाण अणुव्रत में लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। द्वितीय व्रत प्रतिमा में स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत में क्षेत्र, मकान आदि के परिमाण का अतिक्रमण करने से, धन-गाय, बैल आदि धान्य, गेहूँ, चना आदि परिमाण का अतिक्रमण करने से चाँदी-सोना के परिमाण का अतिक्रमण करने से या दासी-दास के परिमाण का अतिक्रमण करने से या कुप्य-वस्त्र, बर्तन आदि समस्त परिग्रह का अतिक्रमण करने से जो भी मेरे द्वारा दिन या रात्रि में मन से, वचन से, काय से, कृत, कारित, अनुमोदना से व्रत संबंधी अतिचार-अनाचार हुआ, वह सब मेरा पाप मिथ्या हो।

## धन्य हूँ मैं व अन्य धन्य जीव

-आचार्य कनकनन्दी

(विविध चाल : तुम अगर साथ देने का वादा करो.....(कभी प्यासे को पानी.....), क्या मिलिये ऐसे लोगों से....., तुम दिल की धड़कन में....., सायोनारा....., छोटी-छोटी गैया....., अच्छा सिला दिया.....)

धन्य हूँ मैं सत्य ज्ञान प्राप्त कर...धन्य हूँ मैं आत्म ज्ञान (को) प्राप्त कर...

धन्य हूँ मैं हित-अहित जानकर...धन्य हूँ मैं आत्मविश्वासी बनकर...

धन्य हूँ मैं ब्रह्मचर्य धारण कर...धन्य हूँ मैं श्रमण साधु बनकर...

धन्य हूँ मैं आगम ज्ञान कर...धन्य हूँ मैं शोध-बोध प्राप्त कर...(1)

धन्य हूँ मैं प्रतिज्ञा धारण कर...धन्य हूँ मैं अयाचक व्रत धर...

धन्य हूँ मैं भौतिक निर्माण त्याग कर...धन्य हूँ मैं चन्दा-चिड्डा (को) त्याग कर...

धन्य हूँ मैं ख्याति-पूजा त्याग कर...धन्य हूँ मैं आडम्बर को त्याग कर...

धन्य हूँ मैं लंद-फंद त्याग कर...धन्य हूँ मैं भीड़ का लोभ/(लोकेश्या) त्याग कर...(2)

धन्य हूँ मैं समता धारण कर...धन्य हूँ मैं तनाव/(दबाव) त्याग कर...

धन्य हूँ मैं ईर्ष्या-घृणा त्याग कर...धन्य हूँ मैं परनिन्दा/(पर चिन्ता) त्याग कर...

धन्य हूँ मैं अनुभव प्राप्त कर...धन्य हूँ मैं वीतराग विज्ञान कर...

धन्य हूँ मैं आत्महित में रत होकर...धन्य हूँ मैं जिनवाणी को लिखकर...(3)

धन्य हूँ मैं उदार-सहिष्णु बनकर...धन्य हूँ मैं संकीर्णता को त्यागकर...

धन्य हूँ मैं कट्टरता को त्याग कर...धन्य हूँ मैं अनेकांती बनकर...

धन्य हूँ मैं स्वपर मत जानकर...धन्य हूँ मैं आधुनिक ज्ञानी बनकर...

धन्य हूँ मैं सर्वोदय भाव धरकर...धन्य हूँ मैं अन्त्योदयी भाव धरकर...(4)

धन्य हूँ मैं गुण-गुणी प्रशंसा कर...अनुमोदना व प्रोत्साहन को कर...

दोष जानकर दोष निवारण कर...मैत्री प्रमोद कारुण्य साम्य रहकर...

धन्य हूँ (मैं) स्वात्मा को परमात्मा मानकर...तदनुकूल ही भाव धारण कर...

लक्ष्यानुकूल ही साधनारत होकर...धन्य हे 'कनक' स्व-आत्मा का ध्यान कर...(5)

जो उत्तम गुणों से भी होते युक्त...उन्हें भी 'कनकनन्दी' माने धन्य...

उत्तम भाव-व्यवहार वाले ही होते धन्य...केवल सत्ता-संपत्ति से न कोई धन्य...

दान-दया-परोपकार से जो युक्त...सत्य-समता-शांति से सहित...

वे ही धन्य है भले कोई भी हो...नैतिक व आध्यात्मिक गुण युक्त हो...(6)

ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा, दिनांक 29.01.2016, मध्याह्न 3.05

## दान सेवा-परोपकार से सुख व स्वास्थ्य लाभ (वैज्ञानिक व धार्मिक दृष्टि से)

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., शत-शत वंदन.....)

सहयोग दान परोपकार जो करता सो करता है स्व-परोपकार।

इसीसे स्वयं को खुशी मिलती है, मिलता है स्वास्थ्य व पुण्य प्रचुर।।

ग्रंथों/(धर्म) में पहले से ही यह वर्णन हुआ, शोध हुआ अभी विज्ञान में भी।

ऑक्सीटोसिन हार्मोन का होता उत्सर्जन, जिससे बनता है उदारमन।।

जिससे प्रेम-सहयोग-संबंध बढ़े, सामंजस्य बढ़ता परस्पर में।

मस्तिष्क का वह भाग (भी) सक्रिय होता, जो भाग खुशी भरोसा से संबंधित।।

स्वास्थ्य भी अच्छा होता आयु बढ़ती, तनाव दूर रहे रक्तचाप सामान्य।

विश्वास-सहयोग-संबंध दृढ़ होते, समाज में मिले आदर व सम्मान।।

बढ़ती कृतज्ञता व सकारात्मकता, चैन-रिएक्शन होता है परस्पर में।

दान-सेवा-करते अन्य भी प्रेरित होते, उदार-सहयोग का होता संचार।।

ऐसा ही दयालु व विनम्र होना, प्रशंसा सांत्वना व प्रिय बोलना।

अभिवादन करना आशीर्वाद देना, वात्सल्य प्रेम से मुस्कुराना।।

आहार औषधि ज्ञानदान देना, अभय वसतिका उपकरण देना।

वैयावृत्ति करना व उपसर्ग हरना, साधु हेतु सर्वोत्तम दान देना।।

इससे पुण्य-ज्ञान-आरोग्य बढ़े, तीर्थंकर प्रकृति का (भी) होता बंध।

अंत में मोक्ष शाश्वत सुख मिले, 'कनक' का लक्ष्य है पाना निर्वाण।।

## आहारदान से विविध-ज्ञान व लाभ

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : क्या मिलिये....., शत-शत वंदन.....)

आहारदान है महान् काम...जिससे मिलते अनेक लाभ...

आहार बनाना नौ भक्ति करना...सप्त गुण सह सातिशय पुण्य लाभ...

आहार बनाने में आयुर्वेद ज्ञान...भौतिक-रसायन-गणित ज्ञान...

चाप-ताप सह गति विज्ञान...माप-तौल-वनस्पति विज्ञान...

समयानुबद्धता-अनुशासन ज्ञान...क्रमबद्धता व निर्णय ज्ञान...

होता अनुपान-मात्रा का ज्ञान...जलगालन स्वच्छता मर्यादा ज्ञान...(1)...

होता नवधा भक्ति का (भी) ज्ञान...पड़गाहन<sup>1</sup>-उच्चासन<sup>2</sup>-पाद प्रक्षालन<sup>3</sup>...

पूजन<sup>4</sup> नमस्कर<sup>5</sup> मन<sup>6</sup> वचन<sup>7</sup> काय<sup>8</sup>...आहार शुद्धि<sup>9</sup> का प्रायोगिक ज्ञान...

सप्त गुण का भी प्रयोग होता...क्रोध<sup>1</sup>-ईर्ष्या<sup>2</sup>-माया<sup>3</sup> का त्याग होता...

निदान<sup>4</sup>-विषाद<sup>5</sup> का त्याग होता...हर्षभाव<sup>6</sup>-निरहंकार<sup>7</sup> भाव होता...(2)...

सातिशय पुण्य का बंध भी होता...पाप कर्म का भी संवर होता...

इह परलोक में सुख भी मिलता...परंपरा से निर्वाण भी होता...

श्रावक के षट् कर्तव्य पालन होते...पूजा-दान-संयम भी पालन होते...

ज्ञानार्जन रूपी स्वाध्याय भी होता...गुरु उपासना-तप भी होता...(3)...

धार्मिक संस्कार व आदर्श का पाठ...‘अतिथि देवो भवः’ का महान् पाठ...

दान-दया-सेवा-परोपकार का पाठ...पढ़ने को मिलता मोक्ष लक्ष्य का पाठ...

दाता-पात्र का होता परस्पर...आदान-प्रदान व परिचय ज्ञान...

जिससे होता है धर्म-संरक्षण...तथाहि संवर्द्धन व उत्तम प्रकार...(4)...

ऐसी शिक्षाएँ अन्य कहीं न मिलती...देश-विदेशों के स्कूल से न मिलती...

आहारदान अतः सदा ही करणीय...‘कनक’ शाश्वतिक सुख वरणीय...(5)...

## आहार < औषधि < अभय < ज्ञानदान

(आहारदान से श्रेष्ठ औषधिदान, औषधिदान से

श्रेष्ठ अभयदान, अभयदान से श्रेष्ठ ज्ञानदान)

(चाल : भातुकली....., तुम दिल की धड़कन....., छोटी-छोटी गैया.....)

आहार औषधि अभय ज्ञान में...उत्तरोत्तर है दान महान्...

आहार से औषधि, औषधि से अभय...अभय से ज्ञानदान महान्...(स्थायी)...

आहार से क्षुधा रोग दूर होता...अतः आहारदान भी औषधिदान...  
इससे अभयदान भी होता...जिससे सुपात्र करता ज्ञानार्जन...

अतः आहारदान में भी गर्भित...औषधि व अभयदान...

ज्ञानार्जन करते अतः सुपात्र...आहारदान भी है ज्ञानदान...(1)...

औषधि से सुपात्र निरोगी होकर...आहार करके पाता अभय...

जिससे वह ज्ञानार्जन करके...साधना से पाता परिनिर्वाण...

इसीलिये भी औषधिदान श्रेष्ठ...जिससे शरीर होता है स्वस्थ...

“शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्”...अस्वस्थ तन से न होती आत्मसाधना...(2)...

जीवित पात्र ही साधना करता...जिससे मिलता है परिनिर्वाण...

बिना जीव हेतु न होता आहारदान...तथा औषधि व ज्ञानदान...

आहार के बाद भी भूख लगती...होता है रोग व जन्म-मरण...

जीवित पात्र भी सुज्ञान बिना...नहीं प्राप्त कर पाता (परि) निर्वाण...(3)...

परिनिर्वाण हेतु सुज्ञान चाहिये...निर्वाण में नहीं भूख-रोग-मरण...

भूख रोग मरण विनाश हेतु चाहिये...सुज्ञान अतः ज्ञानदान महान्...

ज्ञानदाता ही है ‘गुरु’ होते...अन्य दानदाता न होते गुरु...

अरिहंत आचार्य पाठक साधु...अतएव होते हैं परम गुरु...(4)...

अरिहंत ज्ञानदाता होने से...सिद्ध से पूर्व उन्हें करते नमन...

ज्ञानदान ही है निरवद्य दान...जिसे करते चारों गुरु महान्...

आत्मकल्याण व ज्ञानवृद्धि हेतु...ज्ञानदान होता महान् दान...

दोष निवारण-आत्मसाधना हेतु...ज्ञानदान देना महान् दान...(5)...

अज्ञानी मोही असंयमीजन नहीं...कर पाते ज्ञानदान महान्...

चतुर्थ-पञ्चम गुणस्थानवर्ती भी...ज्ञानदान हेतु न होते योग्यतम्...

हर साधु भी न ज्ञानदान कर पाते...इस हेतु चाहिये योग्यता महान्...

ज्ञानी अनुभव अध्यापन कुशल...वाग्मी प्रश्न सह अति मतिवान्...(6)...

अतएव योग्य ज्ञानदानी को...सुपात्र को ज्ञानदान विधेय/(करणीय)...

ख्याति पूजा लाभ विरहित...सत्य-तथ्य जो आगम प्रमाण...



ज्ञानदान से ज्ञान वृद्धि होता...सातिशय पुण्य बंध होता विशेष...

असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती...केवली बनकर पाये निर्वाण...(7)...

प्रवचन देना गलती सुधारना...शिविर संगोष्ठी ग्रंथ प्रकाशन...

ये सब ज्ञानदान में गर्भित...‘कनक’ चाहे ज्ञानदान महान्...(8)...

## “अधिक सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि-भोग वाले होते हैं- अधिक पापी-दुःखी”

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत....)

सत्ता संपत्ति प्रसिद्धि भोग से मिलते हैं अनेक दुःख।

इनके अर्जन संवर्द्धन सुरक्षा व भोग से (में) मिलते हैं दुःख॥धु.॥

जो इनसे संयुक्त होते हैं लगता है वे होंगे सुखी।

मृगमरीचिका या अग्नि-पतंग सम आभास होते वे सुखी॥

इनके अर्जन करने हेतु अन्याय अत्याचार भी करते।

क्रोध-मान-माया-लोभ-मोह से युक्त अनेक पापाचार (भी) करते॥ (1)

तथाहि संवर्द्धन सुरक्षा भोग में/(से) उपरोक्त पाप भी होते।

उसके नाश या हास के कारण अनेक संक्लेश भी होते॥

आक्रमण युद्ध विनाश लूट-पाट शोषण मिलावट चोरी।

अन्याय अत्याचार मायाचार कामाचार करते सत्तादि धारी॥ (2)

इन कारणों से वे स्वयं दुःखी होते अन्य को भी दुःख देते।

इसी के हेतु स्व-जन पर-जन व स्वयं की भी हत्या करते॥

देश-विदेशों के अभी के व पूर्व के उदाहरण हैं लाखों।

राजा-महाराजा नेता मंत्री धनी इन कुकृत्यों में प्रसिद्ध लाखों॥ (3)

सामान्य जनों से भी ये अधिक दुःखी होते किंपाक फल सम रम्य।

दूर से पहाड़ दूर से ढोल दूर से समुद्र सम वे हैं रम्य॥

शारीरिक मानसिक रोगी भी होते, होते हैं अधिक संक्लेश।

इनके अधिक शत्रु भी होते पाते न कभी संतोष॥ (4)

ईर्ष्या तृष्णा घृणा मोह विद्वेष व भयशंका पक्षपात।

फैशन-व्यसन आडम्बर अनिद्रा से होते वे सदा पीड़ित।।

इन कारणों से प्राचीन काल के राजा-महाराजा चक्री/(चक्रवर्ती)।

शान्ति प्राप्ति हेतु सत्तादि त्याग कर बन गये आत्मध्यानी।। (5)

सर्व त्याग जो न कर पाते वे करते थे आंशिक त्याग।

अणुव्रत रूप में स्वीकार करके मर्यादा में करते थे भोग।।

मर्यादाहीन जो सत्तादि भोगते नरक में वे जीव जाते।

‘राजेश्वरी सो नरकेश्वरी’ बहुआरंभी/(परिग्रही) नरक जाते।। (6)

बहु आरंभ परिग्रह के कारण प्रकृति का भी होता शोषण।

ग्लोबल वार्मिंग असम्यक् वृष्टि, ग्लेशियर गलन व प्रदूषण।।

संतोष सदाचार संयम अनुशासन त्याग दान से है सुख।

आत्मसुख हेतु प्रयत्न करो है ‘कनक’ चाहे आत्मसुख।। (7)

## “पापों का विराट रूप : मिलावट”

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत....., लकड़ी की काठी.....)

(हिंसा, चोरी, झूठ, परिग्रह, भ्रष्टाचार, आतंकवाद, शोषण, तृष्णा, विघात, धोखा, मायाचारी, अमानवीय कृत्य, अप्रमाणिकता, प्रदूषण, राष्ट्रद्रोह, कालाबाजारी, रोग, अकाल मरण को बेचने का महाघोर पाप आदि मिलावट से होता है।)

मिलावट महापाप है...पाप का भी बाप है।

इसे जो करे मानव है...मानव नहीं महादानव है।।

पाप तो अनेक होते हैं...भ्रष्टाचार शोषण होते हैं।

झूठा धोखा होते हैं...चोरी परिग्रह होते हैं।। (1)

हिंसा मायाचारी होती है...प्रामाणिकता न होती है।

तृष्णा माया बढ़ती जाती...मानवीयता मरती है।।

तन-मन रोग बढ़ते हैं...अकाल मरण होते हैं।

प्रदूषण भी बढ़ते हैं...राष्ट्रद्रोह काम होते हैं।। (2)

आतंकवादी समान है...मारे मासूम मानव है।

खाद्य में विष समान है...पूतना राक्षसी काम है।।

कालाबाजारी काम है...अन्याय अत्याचार काम है।

मन-वचन व काय से...कृत कारित (व) अनुमत से।। (3)

नवकोटि से जो करता है...उक्त पापों को करता है।

किसी भी धर्म के लोग हों...धार्मिक नहीं पाखण्डी वो।।

आहार औषधि दान है...महान् पुण्य काम है।

वह भी हुआ है व्यापार है...व्यापार में भी भ्रष्टाचार है।। (4)

पर्व में मिलावट अधिक है...पाप भी होता अधिक है।

धर्म में करता अधर्म/(पाप) है...वह पापी अधमाधम है।।

धर्म/(धर्मात्मा) को वह धोखा देता...आस्था व आत्मा को ठगता।

मंगल को अमंगल बनाता...धर्म में आतंक करता।। (5)

जो ऐसा पाप करता है...दण्ड अनेक भोगता है।

निन्दा अपमान भोगता है...तनाव चिन्ता सहता है।।

थाना न्यायालय जाता है...जेल में यातना सहता है।

आर्थिक दण्ड भोगता है...अन्य से तिरस्कार पाता है।। (6)

मानव हेतु (वह) कलंक है...चोर रोगाणु काल है।

राष्ट्रद्रोही धोखाबाज है...आतंकवादी व्याल है।।

मानव ऐसा न करो है...नैतिक/(आदर्श) जीवन पालो है।

स्व-पर हितकारी बनो है...उपदेश 'कनक' का मानो है।। (7)

## भोगासक्त गृहस्थ सुखी क्यों नहीं!?

(चाल : तुम दिल की धड़कन....., सायोनारा.....)

सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि...सहित भी गृहस्थ न होते सुखी...

भोगोपभोग कामासक्त भी...गृहस्थ न होते हैं सुखी...

श्लोक- गृहवासे कुतः सोख्यमाशापाश विपाशिते।

विषयामिषलुब्धानां मोहदावाग्निदीपिते।। (5, ध्यानोपदेश कोष)...

- हिन्दी- गृहवास में कहाँ सुख है...आशा पाश से परिवेष्टित...  
विषय रूपी माँस लुब्धों के...मोह दावाग्नि से दग्ध जीवों के...
- श्लोक- धनेषु जीवितव्येषु स्त्रीषु भोजन वृत्तिषु।  
अतृप्ता मानवाः सर्वे याता यास्यन्ति यान्तिच।। (252) स.श्लो.सं.
- हिन्दी- धन में अतृप्त जीवन में...अतृप्त स्त्री व भोजन में...  
अतृप्त सभी मानव गये...जा रहे हैं और भी जायेंगे...
- श्लोक- सर्वसङ्ग विमुक्तानां सन्तोषामृत पायिनाम।  
शमात्मकं सुखं यत्स्यात् कुतस्तद्भोग गृद्धितः।। (16) ध्या.को.
- हिन्दी- सर्वपरिग्रह विमुक्तों के व...संतोषामृत पायियों के...  
जो सुख होता है शमभावी के...वह सुख कहाँ है भोगगृद्धों के...
- श्लोक- अध्यात्मजं निराबाधमात्मायत्तं भवेद् ध्रुवम्।  
अनुपमं सुखं पुंसां तथा विषयात्मकम्।। (17) ध्या. को.
- हिन्दी- आत्म उपज निराबाध...स्वाधीन सुख जो भोगता है...  
वह सुख है अनुपम सुख...विषयासक्त न भोगता है...
- श्लोक- कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टैर्व्याकुलीक्रियते मनः।  
ततः कर्तृ न पार्येत भावना गृहमेधिभिः।। (12) ध्या. को.
- हिन्दी- दुष्ट इन्द्रिय व कषाय द्वारा...व्याकुल होता है गृहस्थ मन...  
अतएव गृहस्थ न कर पाता है...भावनापूर्वक ध्यान...
- श्लोक- जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।  
विषयेषु विषक्तात्मा शृण्वन्नपि न शृणोति।। (22) ध्या. को.
- हिन्दी- जानता हुआ भी नहीं जानता...देखता हुआ भी नहीं देखता...  
विषयों में आसक्त जीव...सुनता हुआ भी नहीं सुनता...

### समीक्षा

सुख तो आत्मा का शुद्ध स्वभाव...जो आत्मा से ही उत्पन्न होता...

वह सुख है अव्याबाध सुख...जो अनुपम व स्वाधीन होता...(1)...

सांसारिक सुख तो पराधीन है...जो शरीर इन्द्रिय व मनाश्रित...

सत्ता-संपत्ति व भोगोपभोग आश्रित...तथाहि स्त्री-पुरुष आश्रित...(2)...

इसीलिये यह सुख होता पराधीन...न होता है स्वाधीन सुख...

बाधासहित भी होता यह सुख...बंधकारक-रोगकारक सुख...(3)...

श्रमसाध्य व अतृप्तकर...अनेक दुःखकारक यह सुख...

समता-शांति व संतोषनाशक...वैर-विरोध कारक सुख...(4)...

तथापि यह सुख नहीं शाश्वतिक...यह तो क्षणभंगुर आभासी सुख...

उत्तेजनाकारक विशुद्धकारक...संसारवर्द्धक या सांसारिक सुख...(5)...

इसीलिये तो चक्रवर्ती तक...सांसारिक सुख को करते त्याग...

आत्माधीन परम सुख हेतु...स्व-शुद्धात्मा का ही करते भोग...(6)...

अतएव गृहस्थ चक्रवर्ती भी...निर्ग्रंथ श्रमणों को करते प्रणाम...

आत्मिक सुख प्राप्ति के लिए...‘कनकनन्दी’ बना निस्पृह श्रमण...(7)...

## “इच्छा-अनिवार्यता-भावना का स्वरूप एवं फल”

(इच्छा की मर्यादा, अनिवार्यता की आवश्यकता एवं भावना की व्यापकता)

(चाल : यमुना किनारे श्याम.....)

इच्छा-आवश्यकता-भावना जीवों की होती, उससे प्रेरित प्रवृत्तियाँ भी होती।  
 इच्छादि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ भी होती, उससे प्रेरित प्रवृत्तियाँ तथा भी/(ही) होती।  
 तृष्णा से इच्छा होती तथा ही काम, असीम अतृप्त इच्छा तथा ही काम।। (1)

जीवन जीने हेतु अनिवार्यता होती, यह है आवश्यकता सीमित होती।  
 पवित्र विचार युक्त, लक्ष्य जो होता, वह भावना जिससे/(श्रेष्ठ) कार्य होता।  
 भावनानुकूल आवश्यकता होती, वह तो योग्य जो तृष्णा रहित होती।। (2)

राग-द्वेष से युक्त इच्छाएँ होती, तृष्णा कामना संज्ञा स्वरूप होती।  
 आवश्यकता तो अनिवार्यता होती, साधन उपकरण सहयोग रूप (से) होती।  
 भावना तो स्व-पर उपकारमय ही होती, दया क्षमा सहिष्णु समता होती।। (3)

इच्छा रूपी अग्नि वृद्धि होती रहती, इच्छापूर्ति की सामग्री जब मिलती।  
 रावण कंस दुर्योधन की इच्छा अतृप्त रही, सिकन्दर हिटलर की तृष्णा शांत न हुई।  
 धनी चक्री की लालसा तृप्त न होती, खारे जल से यथा प्यास शांत न होती।। (4)

इच्छा से ही अन्याय अत्याचार होते, शोषण मिलावट भ्रष्टाचार होते।  
 आक्रमण युद्ध हत्या लूटपाट होते/(करते), आतंकवाद चोरी डाका डालते।  
 “इच्छा निरोध तप” जैन धर्म में कहा, “दुःखों का कारण इच्छा” बुद्ध ने कहा॥ (5)  
 जीवन निर्वाह हेतु आवश्यकता होती, लक्ष्य हेतु साधन की आवश्यकता होती।  
 सात्विक आहार जलवायु की होती, शास्त्र कमण्डलु पिंछी औषधि होती।  
 इसी से अधिक पाप नहीं होते, अन्याय शोषण युद्धादि न होते॥ (6)  
 उदार समता सहिष्णु भावना होती, स्व-पर-विश्वकल्याण की भावना होती।  
 अहिंसा-सत्य-अचौर्य की भावना होती, क्षमा मृदुता पवित्रता करुणा होती।  
 इसी से ही पाप ताप कष्ट न होते, अन्याय अत्याचार युद्धादि विनष्ट होते॥ (7)  
 अतएव भावना को पावन करो, आवश्यकता को सीमित करो।  
 इच्छा निरोध से तृष्णा को त्यागो, सादा जीवन उच्च विचार करो।  
 यह जीवन प्रबंध समाजवाद, पर्यावरण सुरक्षा का आदर्शवाद॥ (8)  
 शक्ति अनुसार इसे सभी स्वीकारे, व्यक्ति परिवार समाज राष्ट्र स्वीकारे।  
 धर्म-अर्थ-काम-मोक्षार्थी भी स्वीकारे, सुख-शांति-तृप्ति से विकास करे।  
 इसी हेतु ‘कनक’ भी प्रयासरत, विश्व मानव भी करे योग्य प्रयास॥ (9)

## “अन्धी आधुनिकता का कुफल”

आधुनिक जीवन शैली से शरीर प्रदूषण रोग-पाप

(फैशन-व्यसन, फास्ट-फूड, प्रसाधन वस्तु, आलस्य से हिंसा एवं रोग)

(चाल : यमुना किनारे श्याम...)

आधुनिक दिखावे/(दिखाने) का ढंग भी छोड़ो, फैशन-व्यसनों का ढंग भी छोड़ो।  
 हिंसक रोगी बनने का धन्धा भी छोड़ो, मायाचारी दंभ का कुभाव छोड़ो।  
 पाश्चात्य कुसंस्कृति की नकल त्यागो, महान् भारतीय संस्कृति (को) पालो॥(1)  
 दिखावे का अहिंसा धर्म न पालो, “अहिंसा परमो धर्म” आदर्श पालो/(मानो)।  
 “जीओ और जीने दो” सर्वत्र मानो, “वसुधैव कुटुम्बकम्” सूत्र/(भावना) को जानो।  
 मन-वचन-काय से अहिंसा पालो, करो कराओ अनुमोदना करो॥ (2)  
 बाजारू फास्ट-फूड पिज्जा भी छोड़ो, बिस्कुट पेस्ट्री नमकीन भी छोड़ो।

आचार चटपटे व्यंजन भी त्यागो, बर्गर फ्रेंच फ्राईज चाउमीन भी त्यागो।  
 पोटेटो चिप्स आइस्क्रीम भी त्यागो, जेलेटी जैली चॉकलेट भी त्यागो॥ (3)

जैम शैलेक शैम्पू साबुन त्यागो, च्युइंगम चीज ग्लिसरीन को त्यागो।  
 सोने-चाँदी के वर्क का प्रयोग त्यागो, चाय कॉफी सनटैन आयल त्यागो।  
 नेलपॉलिश लिप्स्टिक कॉस्मेटिक्स, त्याग करो टूथपेस्ट माउथवॉश॥ (4)

इनमें प्रयोग होते अण्डा मछली, विषाक्त रसायन चर्बी व हड्डी।  
 गोमांस रक्त व हड्डी का रस, प्रयोग होती है गाय व भैंस की आँत।  
 अशुद्ध अमर्यादित विभिन्न तत्त्व, अशुद्ध पानी व बछड़ों की भी आँत॥ (5)

इससे महान् हिंसा का पाप लगता, निर्दोष पशुओं का हनन होता।  
 विभिन्न प्रदूषण उत्पन्न होते, तन-मन आत्मा भी रोगी बनते।  
 भारतीय संस्कृति का लोप भी होता, समय शक्ति धन का अपव्यय भी होता॥(6)

शरीर में विभिन्न रोग भी होते, कब्ज अल्सर हृदयरोग बढ़ते।  
 ब्लड प्रेशर कैंसर मोटापा बढ़ते, डायबिटीज चक्षुरोग भी होते।  
 दमा खाँसी सिरदर्द स्मरण ह्रास, तनाव क्रोध चिड़चिड़ापन विशेष॥ (7)

सत्तर प्रतिशत हुई रोगों की वृद्धि, भारत में इसलिये हुई समृद्धि।  
 सांस्कृतिक परम्परा घट रही है, अपसंस्कृति की बाढ़ बढ़ रही है।  
 इन विकृतियों को दूर करने हेतु, 'कनकनन्दी' की रचना सुरक्षा हेतु॥ (8)

इन कारणों से युक्त जीवनचर्या से, यंत्रावलम्बित निष्क्रिय जीवन शैली से।  
 मोटापा तनाव मधुमेह बढ़ जाते, रक्तचाप कॉलेस्ट्रॉल हृदयरोग हो जाते।  
 बार्डस फीसदी (22%) दिमाग विकास घटता, गर्भस्थ शिशु का विकास भी कम  
 होता॥ (9)

## मोही धन के लिए करता है सब अनर्थ

(चाल : आत्मशक्ति....)

धन के लिए धन द्वारा धन से जीवन जीते हैं।

शिक्षा से लेकर धर्म तक मोही धन हेतु करते/(मरते) है॥ (1)

धन ही लक्ष्य धन ही साधन, धन ही साध्य हो गया।

निमित्त-उपादान से लेकर, पुण्य-पाप भी हो गया॥ (2)

शत्रु-मित्र भाई-बन्धु माई-बाप सब धन है।

लेन-देन सम्बन्ध-विरह जीना-मरना भी धन है॥ (3)

सुख-दुःख हर्ष-विषाद मनन-चिन्तन भी धन है।

आह्वान-पूजन ध्यान-अध्ययन, सुगुण-दुर्गुण धन है॥ (4)

धन हेतु तो उच्च मानव बन जाता है दानव।

पशु से भी नीच बनता है, छोड़ के निज स्वभाव॥ (5)

पढ़ाई नौकरी व्यापार उद्योग, धन हेतु ही करते हैं।

नृत्य गाना खेल-तमाशा धन हेतु ही करते हैं॥ (6)

न्याय राजनीति दान-पुण्य भी, धन हेतु ही करते हैं।

चोरी मिलावट भ्रष्टाचार हत्या, धन हेतु ही करते हैं॥ (7)

विपत्तिग्रस्त लोगों से भी, चोरी-ठगी भी करते हैं।

मरणासन्न शव से भी, धन अपहरण करते हैं॥ (8)

कोई चोर बनकर तो कोई व्यापारी बनकर।

कोई नौकर बनकर तो कोई साहूकार बनकर॥ (9)

कोई सेवा के बहाने से तो कोई रक्षा के बहाने।

कोई न्याय के बहाने तो कोई लाभ के बहाने॥ (10)

परोपजीवी व गृद्ध पक्षी सम, करते शोषण अन्य का।

‘जीओ और जान ले लो’ का करते काम दानव का॥ (11)

इसलिए तो शिक्षा कानून धर्म तक व्यर्थ जाते/(होते)।

नीति नियम सदाचार, संविधान भी व्यर्थ होते॥ (12)

जब तक मोह न घटेगा अन्य उपाय सब होंगे व्यर्थ।

निर्लोभ वृत्ति व त्याग भावना से, अन्य उपाय होंगे समर्थ॥ (13)

शुचि/(इन्हीं) भावना से चक्रवर्ती, राजवैभव करते त्याग।

‘कनकनन्दी’ भावना भाये मानव करे लोभ का त्याग॥ (14)



(यह कविता केदारनाथ के बाढ़ प्रभावित तीर्थ यात्रियों से एक बोतल पानी के लिए 100 रु. लेना, मृत यात्रियों के शरीर से अलंकार चोरी करना आदि कुकृत्य के दुःख से द्रवित होकर रची गई।)

सार्वभौम संविधान-न्याय एवं राजनीति

## अहिंसा-अपरिग्रह का सार्वभौम नियम

मालिक-गुलाम, शोषक-शोषित भाव-व्यवहार है अप्राकृतिक

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., सायोनारा.....)

कोई किसी का मालिक नहीं (है), स्वयं-स्वयं का ही मालिक।  
कर्ता-धर्ता व स्वयं ही भोक्ता, ये नियम है सार्वभौमिक।।टेक।।

हर द्रव्य स्वतंत्र है तथा मौलिक, स्वयंभू सनातन स्वयंपूर्ण।

अनन्त-शक्ति-गुण-पर्याय सह, शुद्ध रूप से स्वयंपूर्ण।। (1)

सत्ता संपत्ति व बुद्धि युक्त, मानव मालिक जो बनता।

नियम सार्वभौम को लाँघकर, वह न शुद्ध काम करता।। (2)

इसी से ही बनती है धरती खण्डित, आक्रमण युद्ध तथा संहार।

ऊँच-नीच भेद-भाव धनी-गरीब, शोषक-शोषित शिकारी-शिकार।। (3)

इसी के समाधान हेतु बनते, न्याय राजनीति व संविधान।

इसी से पुनः जन्म लेते हैं, शोषक-शोषित आदि व्यापार।। (4)

भले दुर्बल व असहाय रोगी, मानव-पशु की भी रक्षा करे।

उनका भरण व पोषण करे, रक्षण करे न भक्षण करे।। (5)

प्रत्युपकार भले उनसे पाये, कृतज्ञता भी ग्रहण करे।

मालिक-गुलाम शोषक-शोषित, ये भाव-व्यवहार न करे।। (6)

बहु आरम्भ जो परिग्रह करता, वह मरकर नरक में जाता।

राजेश्वरी सो है नरकेश्वरी, ऐसा जैनागम कहता।। (7)

परस्पर उपग्रह करे सभी जीव, नहीं किसी का करे अपकार।

अहिंसा-अपरिग्रह को माने, 'कनकनन्दी' का यह विचार।। (8)

## मानवीय कलंक को मिटाने वाले

### महामानव अब्राहम लिंकन

(चाल : शत-शत वन्दन..., है अपना दिल तो...)

हुआ था एक महामानव, नाम था अब्राहम लिंकन।

मिटाय़ा मानव जाति-कलंक, दास-प्रथा रूपी महाकलंक।।

परिवार था उनका निर्धन, पंकज/(कमल) सम खिले लिंकन।

मृदुल सरल वीर न्यायप्रिय, दास उद्धारक मानव प्रिय।।

धीर-वीर धैर्यशाली गम्भीर, हार न मानने वाला कर्मवीर।

लोकतन्त्र के है अमोघ वीर, मानव अधिकार के उन्नत शिर।।

उदार व्यापक विचारशील, परोपकारी मननशील।

न्याय राजनीति समता नेता, अमेरिका के महान् नेता।।

अन्तःकरण को मानने वाले, पवित्र विचार करने वाले।

दास-प्रभु को न मानने वाले, समता-शासन पालने वाले।।

शत्रु को भी मित्र मानने वाले, मित्र बनाकर निभाने वाले।

तन-मन-धन-सत्ता-समय, सदुपयोग में किया नियोग।।

तुम्हारे आदर्श मानव पाले, सत्ता-सम्पत्ति सम्पन्न वाले।

पृथ्वी में न्याय का शासन होगा, 'कनक' का भाव सफल होगा।।

## राष्ट्रभक्ति-स्वतन्त्रता तथा त्याग के प्रतीक : भामाशाह

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत..., शायद मेरी...)

राष्ट्रभक्ति व त्याग के प्रतीक हुए हैं भामाशाह।

राणा प्रताप के विश्वास पात्र हुए हैं भामाशाह।।

शान-मान अभिमान के प्रतीक हुए हैं भामाशाह।

स्वार्थ त्याग व अर्थदान के प्रतीक हैं भामाशाह।।

आपके अनुज ताराचन्द भी आपके अनुगामी हुए।

मातृभूमि की स्वतन्त्रता हेतु सर्वस्व न्यौछावर किये।।

भारमल के सुपुत्र आप हो, प्रताप के हो प्रधान।  
अमरसिंह के आप भी प्रधान, देश के हो स्वाभिमान॥

राष्ट्रहित हेतु आपने दिया है, विपुल है धनराशि।  
पच्चीस लाख रुपये तथा, बीस हजार है अशर्कि॥

पच्चीस हजार सैनिक योग्य बारह वर्ष की व्यवस्था।  
इसी राशि से हुई हैं आपूर्ति देश की हुई सुरक्षा॥

अभी क्या हुआ देशवासियों को छोड़ रहे (हैं) अपनी संस्कृति।  
छोड़ रहे हैं राष्ट्रभक्ति, सेवादान की प्रवृत्ति॥

बन रहे हैं राष्ट्रद्रोही, करके भ्रष्टाचार व चोरी।  
बन रहे हैं स्वार्थी नकलची, ढोंगी फैशनी-व्यसनी॥

कर रहे हैं मिलावट बलात्कार, धोखाधड़ी व बेईमानी।  
जिससे भारतमाता बन रही, दीन-हीन व भिखारिनी॥

अभी तो जागो! महान् सपूतों, करो हैं सत्पुरुषार्थ।  
भूतगौरव व हुतगौरव को, प्राप्त हेतु कर पुरुषार्थ॥

इसी हेतु भी कनकनन्दी, आह्वान करता बारम्बार।  
उठो! जागो! प्राप्त करो, तुम्हारा आत्मिक अधिकार॥

## छूने से ही सोना बने

(लोभ से सर्वनाश, सोना नहीं है बहुमूल्य वस्तु)

(चाल : आओ बच्चों तुम्हें..., शायद मेरी...)

सुनो हे! बच्चों तुम्हें सुनाऊँ, सोना नहीं है बहुमूल्य वस्तु।  
भोजन पानी प्राणवायु तो सोना से भी है बहुमूल्य वस्तु॥

प्राचीनकाल में एक था राजा, सोना का लोभी बहु था राजा।  
सोना प्राप्त करने हेतु मंत्र सिद्ध किया वह राजा॥

एक देवता प्रगट हुआ वर प्राप्त हेतु राजा को कहा/(बोला)।  
जिसे मैं छूँ वह सोना हो जाये, ऐसा वरदान मांगा वह राजा॥

तथास्तु कहकर देवता गया, राजा परीक्षा करने लगा।  
जिसे वे छूआ सब सोना हुए, दीवाल स्तम्भ पलंग शय्या॥  
भूख लगने पर भोजन छूआ सोना हो गये सभी भोजन।  
प्यास लगने पर पानी को छूआ, पानी हो गया तथाहि स्वर्ण॥  
जिससे राजा दुःखी हो गया, किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया।  
दुःख दूर हेतु पुत्री आई पुत्री को गोद में ले बैठा राजा॥  
राजा की और भी चिन्ता बढ़ गई जब पुत्री भी सोना हो गई।  
सोना से हुआ जीवन शून्य, जिससे उसकी चिन्ता बढ़ गई॥  
वर ही अभिशाप बन गया, लोभ पाप का बाप बन गया।  
वरदान को वापिस हेतु पुनः देवता को आह्वान किया॥  
प्रगट हुए जब देवता राजा वापस किया उस वर को।  
पहले के समान सब कुछ हुआ, राजा त्याग किया लोभ को॥  
इससे मुझे शिक्षा मिलती, लोभ से होता है सर्वनाश।  
स्वात्मोपलब्धि ही मेरा लक्ष्य 'कनक' त्यागा मोह पाश॥

## सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी (लोभ से विनाश, लोभ पाप का बाप)

(चाल : आत्मशक्ति...)

एक दम्पति के पास थी एक मुर्गी, वह भी बहुत अद्भूत थी।

सोने का वह एक अण्डा ही प्रतिदिन भी देती थी॥

वे बहुत ही प्रसन्न थे व स्वयं को मानते थे भाग्य वाले।

सोने के अण्डे बेच-बेचकर बने गये वे धन वाले॥

एक दिन उन्होंने सोचा मुर्गी के गर्भ में होंगे बहुत अण्डे।

एक बार में ही प्राप्त करने से बहुत अधिक धन मिलेंगे॥

लोभ के वश हो उन्होंने फाड़ डाला मुर्गी के पेट चाकू से।

किन्तु हाय! उन्हें एक भी अण्डा नहीं मिला उस पेट से॥

उपकारी वह मुर्गी मर गई तड़प-तड़प कर पीड़ा से।

आगे भी न अण्डे मिले उन्हें दुःखी हुए स्व-लोभ पाप से॥

इसीसे मुझे शिक्षा मिलती 'लोभ है पाप का बाप सदा'।

सांसारिक हर लोभ त्यागकर निस्पृह-सन्तोषी रहूँगा सदा॥

लोभ के कारण परिग्रह होता जिससे होते सर्व पाप।

हिंसा झूठ शोषण मिलावट भ्रष्टाचार ठगी चोरी पाप॥

प्रकृति विनाश भी इसीसे होता पर्यावरण भी होता दूषित।

ग्लोबल वार्मिंग जिससे होता जिससे होते बहु आफत॥

प्रकृति रूपी मुर्गी को अभी नाश कर रहा है मानव।

जिससे स्वयं भी दुःखी हो रहा तथापि नहीं छोड़ता लोभ॥

काल्पनिक कथा आज हो रही है, व्यापक रूप से सत्य सिद्ध।

मानव आज प्रकृति हनन से दानव रूप से हुआ सिद्ध॥

वैज्ञानिक अनुसंधानात्मक कविता

**(हिंसक वस्तु जो अहिंसक लोग भी प्रयोग करते)**

**(अरबों त्रस जीवों से निर्मित पेट्रोल, ईंधन, गैस, मार्बल आदि)**

(चाल : छोटी-छोटी गैया.....)

अहिंसक शाकाहारी लोग भी, जो करते प्रयोग अनेक वस्तु/(तत्व)।

ज्ञात-अज्ञात या प्रमाद वशतः, उसका वर्णन यहाँ प्रस्तुत॥ (1)

पेट्रोल ईंधन गैस मार्बल, जो खानों से होते हैं प्राप्त।

ये सब है त्रस जीव निर्मित, ये नहीं है एकेन्द्रिय/(पृथ्वी) तत्व॥ (2)

यह सब मैंने विज्ञान से जाना, वैज्ञानिक साहित्य व चैनलों से।

विद्यार्थी जीवन में विज्ञान में पढ़ा, अभी जान रहा (हूँ) साइंस चैनलों से॥ (3)

लाखों वर्षों पहले समुद्रों में, या विशाल जलाशयों/(हृदमध्यों) में भी।

लाखों करोड़ों जलचर प्रजाति, दबते गये भूकम्पादि से भी॥ (4)

बार-बार इसी प्रक्रिया द्वारा, दबते गये हैं खरबों जीव।

ताप व चाप कारणों के द्वारा, बने हैं पेट्रोल गैस व मार्बल॥ (5)

मछली आदि जलचर जीवों से, बने हैं पेट्रोल ईंधन गैस।  
सीपों ही परिवर्तित होकर, बनते हैं संगमरमर/(मार्बल)॥ (6)

इन्हें खोदकर निकालने में, तथाहि संस्करण आदि से भी।  
असंख्य त्रस-स्थावर जीवों का, होता है घात प्रदूषण भी॥ (7)

खानों की खुदाई से भूकम्प भी होता, जिससे होता जन धन हानि।  
रोगी विकलांग गरीब भी होते, ऐसी चलती शृंखला की हानि॥ (8)

इन सबका प्रयोग उत्पादन, क्रय-विक्रय भी है हिंसाकारक।  
अतएव इनका त्याग करणीय, इसी हेतु रचा है काव्य 'कनक'॥ (9)  
(विदेशी वैज्ञानिक चैनलों एवं वैज्ञानिक साहित्यों से यह कविता प्रेरित)

## परिग्रही-धनी से होता है प्रदूषण से प्रलय तक

(चाल : शत-शत वंदन....., छोटी-छोटी गैया.....)

परिग्रहधारी महान् पापी होता (है), स्व-पर-अपकार सदा करता।  
प्रकृति व मानव का शोषण करता, आत्म-शांति से रहित होता॥ध्रु॥

इहलोक-परलोक में दुःखों को पाता, तन-मन-आत्मा में रोगी होता।  
क्रोध-मान-माया-लोभ करता, हिंसा झूठ-कुशील चोरी करता॥ (1)

शोषक-शोषित पैदा करता, धनी-गरीब को जन्म देता।  
वर्ग संघर्ष उत्पन्न करता, विविध प्रदूषण का जन्मदाता॥ (2)

जलवायु परिवर्तन के विघ्नकर्ता, खाद्यान्न संकट के है जन्मदाता।  
पेयजल-समस्या के जनक आप, ऊर्जा संकट के बड़ा है बाप॥ (3)

पंचशत धनी लोगों के आय, समान (है) एक चालीस करोड़ के आय।  
नब्बे करोड़ लोग भूख से पीड़ित, एक अरब स्वच्छ पेयजल से वंचित॥ (4)

पौन त्रय अरब (2.6 अ.) स्वच्छ परिवेश से वंचित,  
पौन एक अरब (1.6 अ.) बिजली से वंचित।

पृथ्वी में संसाधन घट रहे हैं, पचास गुना हास हो रहा है॥ (5)

इन समस्याओं की वृद्धि ही होगी, परिग्रह से समस्याएँ कम न होगी।  
ग्रीन हाउस गैसों की वृद्धि होगी, पचास प्रतिशत बढ़ती जाएगी॥ (6)

छह डिग्री सेल्सियस ताप बढ़ेगा, प्राकृतिक संकट खूब बढ़ेगा।  
कृषि वन पेयजल घटक घटेगे, डेंजर जोन के मध्य में होंगे।। (7)

अन्याय-अत्याचार अधिक होगा, भ्रष्टाचार आतंक का विकास होगा।  
पापाचार-दुराचार खूब बढ़ेगा, विविध रोगों का विकास होगा।। (8)

संतुलन पृथ्वी का हास होगा, वर्षा का संतुलन विकृत होगा।  
प्राणी जगत् का लोप होता जाएगा, प्रलय के लिए हेतु बनेगा।। (9)

धर्म ग्रंथों में यह वर्णन हुआ, प्रयोग में भी यह घटित हुआ।  
विज्ञान में भी यह सिद्ध किया, 'कनकनन्दी' ने भी यह सब गाया।। (10)

जो बचेगा इन परिग्रह तृष्णा से, वह बचेगा इन सब पापों से।  
इसी हेतु यह रचना हुई, 'कनकनन्दी' की भावना व्यक्त हुई।। (11)

विजयनगर, दिनांक 19.07.2012, प्रातःकाल

## “केवल भौतिक विकास अन्ततः विनाश के कारण”

(राग : इतनी शक्ति हमें देना....., छोटी-छोटी गैया.....)

भौतिक विकास ही केवल होता, नैतिक प्राकृतिक विनाश होता।

शोषण भ्रष्टाचार खूब बढ़ते, शोषक-शोषित भेद भी बढ़ते।।धु.

इसी से विषमताएँ बढ़ती/(फैलती), अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती।

प्राकृतिक विप्लव (भी) अधिक होते, मानवीय क्रान्तियाँ भी खूब होती।।

जीवन के आधारभूत विविध तत्त्व, विकृत तथा विनाश भी होते।

जंगल पशु-पक्षी कीट-पतंग वृक्ष, जल वायु मृदादि में (ये) होते।। (1)

गरीब मजदूर किसान असमर्थ, अधिक होते हैं ये भी शोषित।

जिससे विकास नींव ढह जाती, जिससे विकास विनाश हो जाता।।

लंका सभ्यता माया सभ्यता, रोमन व मैसोपोटामिया सभ्यता।

राजतंत्र व राजा महाराजा, तानाशाही की (यथा) विनाश है गाथा।। (2)

अभी के भौतिक यांत्रिक विकास, विकास सहित होता है विनाश।

तथा ही व्यक्ति परिवार समाज, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय विकास।।

भौतिक विकास (तो) भोजन सम है, नैतिक विकास पानी के सम है।

प्राणवायु सम आत्म विकास (है), उत्तरोत्तर विकास महान्/(श्रेष्ठ) है।। (3)

आत्मिक विकास से हर विकास (होता) संभव, सर्वोच्च सुख इससे मिलता।

अतएव आत्मिक विकास करणीय, 'कनकनन्दी' के लिए वरणीय।। (4)

**हॉकिंग ने फिर चेताया :**

**विकास और सुरक्षा के नाम पर हम विनाश को दे रहे हैं न्योता...**

**कयामत का काउंटडाउन!**

धरती पर कयामत का काउंटडाउन शुरू हो गया है। ये कहना है प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्टीफन हॉकिंग का। उन्होंने हाल में कहा है कि ग्लोबल वार्मिंग, जैनेटिकली इंजीनियर्ड वायरस और न्यूक्लियरवार के कारण पृथ्वी के अस्तित्व पर संकट मंडरा रहा है। विज्ञान की प्रगति के नकारात्मक पक्ष पर हम आँखें मूंदे हैं। ये खतरे की घंटी है। हमें सचेत होना है, आने वाली पीढ़ियों के भविष्य के लिए अभी से कदम उठाने होंगे। विकास की आपाधापी और सुरक्षा की चिंता में हमने अपने विनाश के ही हथियार जमा कर लिए हैं।...

रूसी वैज्ञानिक कॉन्सेन्टाइन स्लोकोवस्की के अनुसार धरती बेशक मानवता का पालन है, लेकिन हम हमेशा पालन में नहीं रह सकते हैं। हमें और भी आशियाने तलाशने होंगे। अंतरिक्ष में अनंत संभावनाएँ हैं। हम चाँद पर कदम रख चुके हैं। मंगल तक हमारी पहुँच है और भी कई ऐसे अनजान ग्रह हैं जहाँ हम आबाद हो सकते हैं। वैज्ञानिक लगातार दूसरे ग्रहों पर जीवन की खोज में जुटे हैं। आखिर, एक ही टोकरी में सारे अंडों को रखना समझदारी कतई नहीं है।

विज्ञान की प्रगति के नकारात्मक पक्ष से लगभग तय हो चुका है कि अगले सौ या हजार साल में पृथ्वी पर विनाश का तांडव होगा।

विज्ञान के सकारात्मक पक्ष से उम्मीद बढ़ी है कि आने वाले वर्षों में हम दूसरे ग्रहों पर रहने लगेगे। मैं आशावादी हूँ और मुझे यकीन है कि हम ऐसा कर सकते हैं।

**बड़े संकेत जो बता रहे अनिष्ट है करीब**

**(वायरस-हमारी ही खोज जो हो रही बेकाबू)**

हॉलीवुड की फिल्में ही नहीं असल जिंदगी में भी जैनेटिकली इंजीनियर्ड



वायरस का प्रकोप हम देख चुके हैं। इबोला वायरस के कारण हम अफ्रीका में मौत का तांडव देख चुके हैं। वर्ष 2014-15 में इबोला वायरस के फैलाव के दौर में इसे बड़ी मुश्किल से महामारी बनने से रोका जा सकता था। लेकिन फिर भी इसके कारण हजारों लोगों को अपनी जान गंवानी पड़ी थी। जैनेटिकली इंजीनियर्ड वायरस इससे भी ज्यादा तबाही फैला सकता है। कई देश अपनी सुरक्षा के नाम पर ऐसे जैविक हथियार जमा करने में जुटे हैं जिनमें इस प्रकार के घातक वायरस का इस्तेमाल हो सकता है। हम आए दिन नए-नए वायरसों के बारे में सुनते-पढ़ते आए हैं। हाल में स्किन कैंसर के इलाज के लिए टी-वेक थैरेपी की खोज की गई है। इसके अनुसार शरीर की प्रतिरोध क्षमता को ही विकसित कर कैंसर से लड़ा जाता है। लेकिन हॉकिंग इस बारे में सचेत करते हैं कि इस तरीके में काफी जोखिम भी है। क्योंकि जीन को मॉडीफाई करने के दुष्प्रभावों के बारे में अभी वैज्ञानिक खोज अधिक विकसित नहीं हुई है। आशंका है कि ऐसे वायरस का तोड़ किसी एंटीबायोटिक के पास ही न हो।

बर्ड फ्लू की शुरूमें एच1एन1 था, पर ये वायरस म्यूटेट होकर एच5एन1 हो गया यानी इसका प्रसार हो गया।

वैज्ञानिकों के अनुसार वायरसों के संक्रमण के फैलाव को रोकने के लिए अभी और अधिक शोध की जरूरत है।

इन वायरसों की सूची लंबी है। इनमें शामिल हैं बर्ड फ्लू, स्वाइन फ्लू और हाल का जीका वायरस।

### **ग्लोबल वार्मिंग : गरमा रही है हमारी धरती**

स्टीफन हॉकिंग ने वर्ष 2007 में लियानार्डो डिकैपरियो की डाक्यूमेंट्री में चिंता जताई थी कि 'हम नहीं जानते हैं कि ग्लोबल वार्मिंग कब खत्म होगी।' उन्होंने कहा था कि यदि समय रहते सुधार के उपाय नहीं किए गए तो वो दिन दूर नहीं जब धरती शुक्र ग्रह के समान हो जाएगी। जहाँ तापमान 250 डिग्री सेल्सियस हो जाता है और एसिड की बारिश होती है। संकेत साफ हैं-औद्योगिक क्रांति के बाद से धरती का औसत तापमान 0.8 डिग्री सेल्सियस तक बढ़ गया है। हमने विकास के लिए कोयले और पेट्रोलियम का जमकर उपयोग किया है। इससे कार्बनडाइ-ऑक्साइड और ग्रीन हाउस प्रभाव पैदा करने वाली कई गैसों का उत्सर्जन हुआ। इससे धरती का प्राकृतिक संतुलन डिग गया है। ओजोन परत को नुकसान पहुँचा। सबसे पहले हमारी कृषि

इससे प्रभावित हुई है। मौसम चक्रमें आए बदलाव से खेतों की पैदावार प्रभावित हुई है। विश्व के विभिन्न हिस्सों में ग्लोबल वार्मिंग का असर पड़ रहा है। वैज्ञानिकों का कहना है कि मानवीय दखलंदाजी के कारण ही अलनीनो का प्रभाव मौसम चक्र पर पड़ रहा है। इसका सीधा संबंध ग्लोबल वार्मिंग से है।

पिछले 25 वर्ष के दौरान ही तापमान में सबसे ज्यादा बढ़ोतरी दर्ज की गई है। 2015 सबसे गर्म साल रहा है।

वर्ष 2005 से 2014 के दौरान प्रत्येक साल 335 जलवायु से संबंधित परिवर्तनों को रिकॉर्ड किया गया।

यूएन के अनुसार प्राकृतिक आपदाओं के कारण 1995 से अब तक 6 लाख से अधिक लोगों की मौत हो चुकी है।

### **परमाणु युद्ध : हमने रचा तबाही का जखीरा**

दुनिया परमाणु बम की त्रासदी को देख चुकी है। जापान ने इसे झेला है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से परमाणु हथियारों को बनाने के साथ तबाही का जखीरा जमा करने की होड़ मच गई। कई देशों ने अपनी 'सुरक्षा' के नाम पर परमाणु हथियारों को जमा करना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि परमाणु बम का आविष्कार करने वाले रॉबर्ट ओपनहाइमर ने कहा था मैं अब मौत बन चुका हूँ, दुनिया को तबाह करने वाला। इसके बावजूद एटमी हथियारों की दौड़ खत्म नहीं हुई। तत्कालीन सोवियत संघ ने वर्ष 1949 में अपने पहले परमाणु बम का परीक्षण किया। इसके जवाब में एक कदम आगे बढ़कर वर्ष 1952 में अमरीका ने अपने पहले हाइड्रोजन बम का परीक्षण कर डाला। ये बम तो परमाणु बम से कई गुना ज्यादा विनाशकारी है। शीत युद्ध के दौरान परमाणु युद्ध की आशंका सियासी कारणों से उत्पन्न हुई। ये हमारे अस्तित्व के लिए अच्छी बात है कि परमाणु हथियार संपन्न तत्कालीन सोवियत संघ और अमरीका से कभी इसका इस्तेमाल नहीं किया। लेकिन अब समसामयिक विश्व में उत्तर कोरिया और पाकिस्तान जैसे कुछ परमाणु शक्ति संपन्न कुछ देश हैं जिनके बारे में आशंकाएँ हमेशा रहती हैं।

जापान के हिरोशिमा और नागासाकी में द्वितीय विश्व युद्ध में गिराए एटम बम से 1.20 लाख लोग मारे गए थे।

विश्व में वर्तमान में लगभग 16,395 परमाणु हथियार हैं। इनमें से 4,300 को

तैनात किया गया है।

ग्रीनपीस के अनुसार मानवीय त्रुटि और प्राकृतिक आपदाओं से विश्व के 436 परमाणु संयंत्र से खतरा हो सकता है।

उत्तर कोरिया के तानाशाह और पाकिस्तान की अस्थिर राजनीति इन आशंकाओं को हवा देती रहती है। इस सबके बीच सीरिया के बारे में भी आशंका है कि उसने भी परमाणु क्षमता हासिल करने के लिए जुगाड़ लगाना शुरू कर दिया है। केवल परमाणु हथियार नहीं परमाणु संयंत्र भी तबाही का कारण बन जाते हैं। ग्रीनपीस इंटरनेशनल के अनुसार वर्ष 1986 में चेर्नोबिल हादसे और वर्ष 2004 में बेलारूस में परमाणु संयंत्र में हुए हादसे से लगभग दो लाख लोगों की मौत हुई थी। वर्तमान में भी लाखों लोग विकिरण के कारण असाध्य रोग झेल रहे हैं। वर्ष 2011 में जापान के फुकुशिमा परमाणु संयंत्र में हुई दुर्घटना के कारण लगभग 1.60 लाख लोग विस्थापित हुए थे। कहा जाता है कि फुकुशिमा के आसपास का क्षेत्र अगले दो दशक तक मानवीय बसावट के लिए अनुकूल नहीं रहेगा। ज्ञात हो कि फुकुशिमा से लगभग छह माह तक विकिरण रिसाव होता रहा था।

### **महसूस तो कर रहे हैं, फिर भी चेत नहीं रहे**

हमें अभी तो इसका भान नहीं हो रहा है, लेकिन ये भयावह हालात है। इस ओर समय रहते काम करना होगा। दूसरी आफत है जेनेटिकली म्यूटेन्ट वायरस-ये समसामयिक विश्व में मौतों का सबसे बड़ा कारण बन रहा है। ऐतिहासिक और भौगोलिक रूप से देखे तो पाएंगे कि पहले छितराई हुई जनसंख्या थी। लेकिन अब जनसंख्या का संकेंद्रण सघन हो गया है। ऐसे में वायरस के फैलने की आशंका और ज्यादा रहती है। लोगों का आपस में संपर्क भी पहले की तुलना में ज्यादा रहता है। देखने में आया है कि दुनिया के किसी भी हिस्से में पैदा हुआ वायरस महीनों नहीं कुछ ही दिनों में फैल जाता है। रोग प्रतिरोध क्षमता में भयानक स्तर तक कमी आ जाती है और इन वायरसों को कोई टीका भी इजाद नहीं हो पाता है। अधिकांश वायरस जनित रोगों पर अंकुश नहीं लग पाता है। हाल के वर्षों में दुनिया ने इन घातक वायरसों का प्रकोप झेला है।

तीसरी आफत है एटमी जखीरा-दुनिया हथियारों के ढेर पर बैठी हुई है। बस पलीते पर आग लगने की देरी है और फिर सब कुछ खत्म। जी हाँ, हमने अपनी

तबाही के लिए इतना जखीरा बना लिए है कि जिससे दुनिया एक नहीं कई बार तबाह हो सकती है। वर्तमान एक ध्रुवीय विश्व में एटमी जखीरा किसी के गलत हाथों में पड़ने का खतरा भी है। ये कोई सनकी तानाशाह अथवा कोई गैरजिम्मेदार देश भी हो सकता है। आशंका है कि कभी कोई छोटा तारा धरती से टकराए और एटमी हथियार संपन्न देश समझे कि किसी ने एटमी हमला कर दिया है और एटमी युद्ध छिड़ जाए।

इंडोनेशिया के पास माउंट टूबा में लगभग 70 हजार साल पहले ज्वालामुखी विस्फोट से दुनिया की लगभग समूची आबादी खत्म हो गई थी। ये तो प्राकृतिक आपदा थी, लेकिन अब हमने अपने खुद के विनाश के लिए 'हालात' पैदा कर लिए हैं। ऐसे में सौरमंडल में दूसरे ग्रहों को आबाद कर स्पेस कॉलोनी का विकास करना होगा।

### **जनता अनजान, सरकार को कमान**

लेकिन आज विज्ञान जिन लोगों के हाथों में है उनकी कोशिश रहती है कि लोगों में चर्चा न हो। अपनी पहले की रिपोर्ट में इन्होंने बताया कि चूहों को दो साल तक जैनेटकली मोडिफाइड फूड खिलाया जाए तो उनके शरीर पर इतने भयंकर ट्यूमर हो जाते हैं कि उनको देखकर भी डर लगता है। चूहे के दो साल मानव के 70-80 के बराबर माने जाते हैं।

चूहों पर 90 दिन का प्रयोग किया जाता है। जो कि मानव के 20 साल के बराबर माना जाता है। इस पर माँग की जा रही है कि इन पर पूरे दो साल का प्रयोग हो जिससे पता चल सके कि मानव के पूरे जीवन में क्या होगा। इस पर ध्यान नहीं दिया जा रहा।

विश्व में वर्तमान में लगभग 16,395 परमाणु हथियार हैं। इनमें से 4,300 को तैनात किया गया है।

ग्रीनपीस के अनुसार मानवीय त्रुटि और प्राकृतिक आपदाओं से विश्व के 436 परमाणु संयंत्र से खतरा हो सकता है। (राजस्थान पत्रिका)

## **विकास के लिए त्याग करो या दान**

**(त्याग संभव न हो तो दान करो)**

(चाल : दिल जाने ज़िगर....., दुनिया में रहना है तो.....)

त्याग करो भाई त्याग करो रे-2, अंतरंग-बहिरंग त्याग करो रे-2।

विकास हेतु त्याग करो रे-2, बाहर संपत्ति का त्याग करो रे-2॥ (टेक)

अंतरंग त्याग सहित होता, बहिरंग त्याग हितकर होता,  
अंतरंग त्याग करने हेतु-2, बहिरंग त्याग परिकर है॥ (1)

बाह्य में परिग्रहधारी, अंतरंग में है दोषकारी,  
बिना अंतर परिग्रह से-2, बहिरंग में न परिग्रही रे॥ (2)

त्याग का बाह्य त्याग से, अविनाभावी संबंध होता,  
जहाँ धुआँ है अग्नि भी होगी-2, जहाँ जीव है चेतना होगी रे॥ (3)

बाह्य में परिग्रही जो होता, बिना बहिरंग परिग्रह से,  
कांचूली त्याग मात्र से नाग, नहीं होता है निर्विष नाग रे॥ (4)

सर्व त्याग से सर्वज्ञ होता, परिग्रह से नारकी होता,  
परिग्रह के कारण जीव-2, बन जाता भ्रष्टाचारी रे॥ (5)

वनस्पति के त्याग के कारण, जिन्दा रहता मानव धरती पर,  
अनाज फल दवा आदि से, वृक्ष करता महोपकार रे॥ (6)

दूध, घी, मट्ठा, मलाई आदि, दुधारू मादा से पाता मानव,  
वस्त्र, लकड़ी तेल सुगंधी-2, वनस्पति से पाता मानव रे॥ (7)

त्यागी का सदा होता सम्मान, शोषक का होता अधःपतन,  
त्याग से बादल होता ऊपर-2, ग्रहणकर्ता नीचे सागर रे॥ (8)

गति होती है त्याग पूर्वक, बिना त्याग से नहीं है गति,  
प्रगति होती त्याग सहित-2, बिना त्याग से प्रगति नहीं रे॥ (9)

सर्वस्व उत्सर्ग होता है त्याग, दान होता है आंशिक त्याग,  
संभव न यदि सर्वस्व त्याग, दान तो सदा मानव करो रे॥ (10)

तन मन धन समय श्रम से, त्याग अथवा दान करो रे,  
दोनों के बिना हे मानव-2, वृक्ष से भी तू अति हीन रे॥ (11)

विकास उपाय त्याग या दान, ग्रहण करो तू मानव रे,  
“कनकनन्दी” करे आह्वान-2, त्याग से बन जाओ भगवान् रे॥ (12)

# परिग्रह पाप का कारण

## मूर्च्छा परिग्रह

Worldly attachment is (मूर्च्छा) Murchha, infatuation or intoxication through Pramattayoga, in the living or non-living objects of the world.

मूर्च्छा परिग्रह है-बाह्यभ्यन्तर उपधि (परिग्रह) के रक्षण आदि के व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं। गाय, भैंस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन बाह्य परिग्रह के और राग-द्वेषादि अभ्यन्तर परिग्रह के संरक्षण, अर्जन, संस्कारादि लक्षण व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं। आभ्यन्तर ममत्व परिणाम रूप मूर्च्छा को परिग्रह कहने पर बाह्य पदार्थों में अपरिग्रहत्व का प्रसंग नहीं देना चाहिये, क्योंकि आभ्यन्तर परिग्रह ही प्रधानभूत है। अर्थात् 'यह मेरा है' इस प्रकार का संकल्प रूप आध्यात्मिक परिग्रह है, वही प्रधानभूत है अतः मूर्च्छा से मुख्यतया आभ्यन्तर परिग्रह का ग्रहण किया जाता है। उस आभ्यन्तर परिग्रह के ग्रहण करने पर आभ्यन्तर परिग्रहण के कारणभूत गौण रूप बाह्य परिग्रह का ग्रहण तो हो ही जाता है।

मूर्च्छा का कारण होने से बाह्य पदार्थ के भी मूर्च्छा व्यपदेश होता है। जैसे- "अन्न ही प्राण है" इस प्रकार प्राणों की स्थिति में कारणभूत अन्न में प्राणों का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार मूर्च्छा का कारण (ममत्व का कारण) होने से बाह्य परिग्रह को भी मूर्च्छा कह देते हैं। अर्थात् कारण में कार्य का उपचार किया जाता है।

प्रमत्तयोग का अधिकार होने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र में होने वाला ममत्व भाव परिग्रह नहीं है। क्योंकि निष्प्रमादी ज्ञान, दर्शन और चारित्रवान् व्यक्ति के मोह का अभाव है। अतः निष्प्रमादी व्यक्ति के चारित्र का ममत्व मूर्च्छा नहीं है और उसके निष्परिग्रहत्व सिद्ध होता है। अथवा, ज्ञानादि तो आत्मा के स्वभाव हैं, अहेय हैं। अतः वे ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि परिग्रह हो ही नहीं सकते। उनमें तो अपरिग्रहत्व है। रागादि तो कर्मोदयजन्य हैं, अनात्म-स्वभाव हैं और हेय हैं। इसलिये इनमें होने वाला 'ममेद' संकल्प परिग्रह है। अर्थात् रागादि को परिग्रह कहते हैं।

परिग्रह ही सर्व दोषों का मूल कारण है। यह परिग्रह ही समस्त दोषों का मूल है। 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प होने पर ही उसके रक्षण आदि की व्यवस्था करनी होती है और उसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है, उस परिग्रह के लिए झूठ भी बोलता है, चोरी

करता है, मैथुन कर्म में भी प्रयत्न करता है, अर्थात् परिग्रहाभिलाषी व्यक्ति सर्व कुकर्म करता है। इस परिग्रह के ममत्व के कारण नरकादि में अनेक प्रकार के दुःख भोगता है, इस लोक में भी निरंतर दुःख रूपी महासमुद्र में अवगाहन करता है, अर्थात् सैकड़ों दुःख भोगता है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी परिग्रह का लक्षण निम्न प्रकार कहा गया है-

**या मूर्छा नामोयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।**

**मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्व परिणामः॥ (111)**

जो यह मूर्छा है यह ही परिग्रह जाननी चाहिए तथा मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ ममता रूप परिणाम मूर्च्छा कहलाता है।

### **मूर्छा और परिग्रह की व्याप्ति**

**मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।**

**सग्रन्थो मूर्छवान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः॥ (112)**

परिग्रह का मूर्छा लक्षण करने से दोनों प्रकार-बहिरंग और अंतरंग परिग्रह की व्याप्ति अच्छी तरह घट जाती है बाकी सब परिग्रहों से रहित भी निश्चय करके मूर्छा वाला परिग्रह वाला है।

### **बाह्य परिग्रह में परिग्रहपना है या नहीं**

**यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरंगः।**

**भवति नितरां यतोसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वं॥ (113)**

यदि इस प्रकार है अर्थात् परिग्रह का लक्षण मूर्छा ही किया जाता है उस अवस्था में निश्चय से कोई भी बहिरंग परिग्रह, परिग्रह नहीं ठहरता है इस आशंका के उत्तर में आचार्य उत्तर देते हैं कि बाह्य परिग्रह भी परिग्रह कहलाता है क्योंकि यह बाह्य परिग्रह सदा मूर्छा का निमित्त कारण होने से अर्थात् यह मेरा है ऐसा ममत्वपरिणाम बाह्य परिग्रह में होता है इसलिये वह भी मूर्छा के निमित्तपने को धारण करता है।

### **परिग्रह में हिंसा**

**हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसातरंगं संगेषु।**

**बहिरंगेषु तु नियतं प्रयायु मूर्छैव हिंसात्वं॥ (119)**

अंतरंग परिग्रहों में हिंसा के पर्याय होने से हिंसा सिद्ध है बहिरंग परिग्रहों में तो नियम से मूर्छा ही हिंसापने को सिद्ध करती है।

## कषाय रूपी परतंत्रता

### कषाय की परिभाषा एवं कार्य

सुहृदुक्खसुबहुससं कम्मक्खेतं कसेदि जीवस्स।

संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेत्ति।। (272) गो.जीव भाग-1 पृ.सं. 473

जिस कारण से संसारी जीव के ज्ञानावरण आदि मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति के भेद से भिन्न-शुभ-अशुभ कर्म रूप क्षेत्र को अर्थात् धान पैदा होने की भूमि को कर्षण करता है अतः इसे कषाय कहते हैं।

### परिग्रहपरिमाणानुव्रत के अतिचार

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्य भाण्डप्रमाणातिक्रमाः। (29)

Transgressing the limit of fields, houses, silver, gold, cattle, corn, female and male servants, clothes.

क्षेत्र और वास्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन और धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दास और दासी के प्रमाण का अतिक्रम तथा कुप्य और भाण्ड के प्रमाण का अतिक्रम ये परिग्रहपरिमाण अनुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

1. क्षेत्र-चावल आदि धान्यों की उत्पत्ति का स्थान।

2. वास्तु-आगार, भवन, घर।

3. हिरण्य-चाँदी आदि का व्यवहार। रजत के व्यवहार तंत्र को हिरण्य कहते हैं अथवा सोने के सिक्के आदि को भी हिरण्य कहते हैं।

4. सुवर्ण-व्यवहार में आने वाला सोना प्रसिद्ध (ज्ञात) ही है।

5. धान्य-चावल, गेहूँ, मूँग, तिल आदि।

6-7. दासीदास-नौकर, स्त्री-पुरुष वर्ग।

8. कुप्य-कपास एवं कोसे आदि का वस्त्र और चन्दन आदि वस्तुएँ।

9. धन-गाय, बैल, अश्व आदि चतुष्पदिपशु समूह।

10. भाण्ड-पीतल, सुवर्ण, स्टील, लोह इत्यादि निर्मित भाजन समूह।

तीव्र लोभ के वशीभूत होकर इनकी मर्यादा का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। 'मेरा इतना ही परिग्रह है, इससे अधिक नहीं' इस प्रकार मर्यादित क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण आदि परिग्रह की अतिलोभ के कारण मर्यादा बढ़ा लेना, स्वीकृत मर्यादा



का उल्लंघन करना प्रमाणातिक्रम है। ये परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं।

## दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि। (30)

The partial Transgressions of the first गुणव्रत i.e. दिग्व्रत are :

1. ऊर्ध्वव्यतिक्रम—Higher than your limit;
2. अधोव्यतिक्रम—Lower than your limit;
3. तिर्यग्व्यतिक्रम—Other 8 directions beyond your limit;
4. क्षेत्रवृद्धि—To increase the boundaries;
5. स्मृत्यन्तराधान—Forgetting the limit in the vow.

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये दिग्व्रतरिव्रत के पाँच अतिचार हैं।

परिमित दिशाओं की अवधि (मर्यादा) का उल्लंघन करना अतिक्रम है। ऊर्ध्वातिक्रम, अधोऽतिक्रम और तिर्यग्व्यतिक्रम के भेद से अतिक्रम तीन प्रकार का है।

**ऊर्ध्वातिक्रम**—मर्यादित पर्वत और सम भूमि आदि से ऊपर चढ़ना ऊर्ध्वातिक्रम है।

**अधोऽतिक्रम**—मर्यादित अधोभाग से अधिक कूपादि में नीचे उतरना अधोऽतिक्रम है।

**तिर्यग्व्यतिक्रम**—भूमि के बिल, गुफा आदि में प्रवेश करके मर्यादा की उल्लंघन करना तिर्यग्व्यतिक्रम अतिचार है।

**क्षेत्रवृद्धि**—लोभकषाय के वशीभूत होकर स्वीकृत मर्यादा का परिमाण बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है। पूर्व दिशा में योजन आदि के द्वारा मर्यादा करके पुनः लोभ कषाय के कारण उस मर्यादा से अधिक दिशा की इच्छा करना क्षेत्रवृद्धि है, ऐसा जानना चाहिए इन दिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन प्रमाद, मोह और चित्तव्यासंग से होता है, ऐसा जानना चाहिए।

## नरक आयु का आस्रवः

बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकास्यायुषः। (15)

As to the age karma the inflow of नरकायुकर्म hellish age karma is caused by too much wordly activity and by attachment to too

many worldly objects or by too much attachment.

**बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाले का भाव नरकायु का आस्रव है।**

प्राणियों को दुःख पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना आरम्भ है। यह वस्तु मेरी है इस प्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है। जिसके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह हो वह बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाला कहलाता है और उसका भाव बह्वारम्भ परिग्रहत्व है। हिंसा आदि क्रूर कार्यों में निरंतर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का अपहरण, इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्ति तथा मरने के समय कृष्ण लेश्या और रौद्रध्यान आदि का होना नरकायु के आस्रव हैं।

तत्त्वार्थसार में कहा भी है-

**उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता।**

**मिथ्यात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यं निरनुकम्पता॥ (30)**

**अजस्रं जीवघातित्वं सततानृतवादिता।**

**परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम्॥ (31)**

**कामभोगाभिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता।**

**जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम्॥ (32)**

**मार्जारताम्रचूडादिपापीयः प्राणिपोषणम्।**

**नैःशील्यं च महारम्भपरिग्रहतया सह॥ (33)**

**कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम्।**

**आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः॥ (34)**

तीव्र मान करना, पाषाण रेखा के समान तीव्र क्रोध करना, मिथ्यात्व धारण करना, तीव्र लोभ करना, निरंतर निर्दयता के भाव रखना, सदा जीवघात करना, निरंतर झूठ बोलना, सदा परधनहरण करना, निरंतर मैथुन सेवन करना, हमेशा काम भोग सम्बन्धी अभिलाषाओं को अत्यधिक बढ़ाना, जिनेन्द्र भगवान् में दोष लगाना, जिनागम का खण्ड करना, विलाव, मुर्गा आदि पापी जीवों का पोषण करना, शील रहित होना, बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह रखना, कृष्णलेश्यारूप परिणति करना तथा चार प्रकार का (हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द, परिग्रहानन्द) रौद्रध्यान करना ये सब नरकायु के आस्रव के हेतु हैं।

## तिर्यच आयु का आस्रव माया तैर्यग्योनस्य। (16)

The inflow तिर्यग्योनि Sub human age karma is caused by माया deceit.

**माया तिर्यचायु का आस्रव है।**

चारित्रमोह के उदय से कुटिल भाव होता है, वह माया है। चारित्र मोह कर्म के उदय से उत्पन्न जो आत्मा का कुटिल स्वभाव है, वह माया कहलाती है। संक्षेपतः वह माया निकृति तिर्यच आयु के आस्रव का कारण है। विस्तार से मिथ्यात्वयुक्त अधर्म का उपदेश, बहु आरम्भ, बहु परिग्रह, अतिवंचना (अत्यंत मायाचार), कूटकर्म, पृथ्वी की रेखा के समान रोष, निःशीलता, शब्द और संकेत आदि से परवंचना का षड्यंत्र, छल-प्रपञ्च की रूचि, परस्पर फूट डालना, अनर्थोभ्दावन, वर्ण, रस, गंध आदि को विकृत करने की अभिरूचि, जातिकुलशीलसंदूषण, विसंवाद में रूचि, मिथ्याजीवित्व, किसी के सदगुणों का लोप, असद्गुणख्यापन, नील एवं कापोत लेश्या के परिणाम, आर्तध्यान और मरणकाल में आर्तरौद्रपरिणाम इत्यादि तिर्यच आयु के आस्रव के कारण हैं।

तत्त्वार्थसार में भी कहा है-

**नैःशील्यं निर्व्रतत्वं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम्।**

**मिथ्यात्वसमवेतानामधर्माणां देशनम्॥ (35)**

**कृत्रिमागुरुकपूर्कुकुङ्कमोत्पादनं तथा।**

**तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम्॥ (36)**

**सुवर्णमौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितः।**

**वर्णगन्धरसादीनामन्यथापादनं तथा॥ (37)**

**तक्रक्षीरघृतादीनामन्यद्रव्यविमिश्रणम्।**

**वाचान्यदुत्काकरणमन्यस्य क्रियया तथा॥ (38)**

**कापोतनीललेश्यात्वमार्तध्यानं च दारूणम्।**

**तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्रवहेतवः॥ (39)**

शीलरहित होना, व्रतरहित होना, मिथ्यात्व धारण करना, दूसरों को ठगना,

मिथ्यात्व से सहित अधर्मों का उपदेश देना, कृत्रिम अगुरु, कपूर और केशर का बनाना, झूठे नाप-तौल के बाँट-तराजू तथा कूट आदि का चलाना, नकली सुवर्ण तथा मोती आदि का बनाना, वर्ण, गंध, रस आदि को बदलकर अन्य रूप देना, छाछ, दूध तथा घी आदि में अन्य पदार्थों का मिलाना, वाणी तथा क्रिया द्वारा दूसरों की विषय अभिलाषा को उत्पन्न करना, कापोत और नील लेश्या से युक्त होना, तीव्र आर्तध्यान करना और मायाचार करना ये सब तिर्यच आयु के आस्रव के हेतु जानना चाहिए।

### मनुष्य आयु का आस्रव

अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य। (17)

The inflow of मनुष्यायु human-age-karma is caused by slight wordly activity and by attachment to a few wordly objects of by slight attachment.

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह वाले का भाव मनुष्यायु का आस्रव है।

नरक आयु के आस्रव के कारणों से विपरीत भाव मनुष्य आस्रव के कारण हैं। नरक आयु के आस्रवों के कारण बहु आरम्भादि का वर्णन कर दिया है। उससे विपरीत अल्पारम्भ, अल्पपरिग्रहत्व, संक्षेप में मनुष्य आयु के आस्रव के कारण हैं। विस्तार से मिथ्यादर्शन सहित बुद्धि, विनीत स्वभाव, प्रकृतिभद्रता, मार्दव-आर्जव परिणाम, अच्छे आचरणों में सुख मानना, रेत की रेखा के समान क्रोधादि, सरल व्यवहार, अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह, संतोष में रति, हिंसा से विरक्ति, दुष्ट कार्यों से निवृत्ति, स्वागत तत्परता, कम बोलना, प्रकृति मधुरता, सबके साथ उपकार-बुद्धि रखना, औदासीन्यवृत्ति, ईर्षारहित परिणाम, अल्प संक्लेशता, गुरु, देवता, अतिथि की पूजा-सत्कार में रूचि, दानशीलता, कापोत, पीत लेश्या के परिणाम, मरण समय में धर्मध्यान परिणति आदि लक्षण वाले परिणाम मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं।

स्वभावमार्दवोपेता आर्जवाङ्कितविग्रहाः।

सन्तोषिणः सदाचारा नित्यं मन्दकषायिणः॥ (92)

शुद्धाशया विनीताश्च जिनेन्द्रगुरुधर्मिणाम्।

इत्याद्यन्यामलाचारैर्मण्डिता येऽत्र जन्तवः॥ (93)

ते लभन्तेऽन्यपाकेन चार्यखण्डे शुभाश्रिते।

नृगति सत्कुलोपेता राज्यादिश्रीसुखान्विताम्॥ (94)

जो स्वभाव से मृदुतायुक्त हैं, जिनका शरीर सरलता से संयुक्त है, संतोषी हैं, सदाचारी हैं, सदा जिनकी कषाय मन्द रहती है, शुभ अभिप्राय रखते हैं, विनीत हैं, जिनेन्द्र देव, निर्ग्रंथ गुरु और जिनधर्म का विनय करते हैं, इन तथा ऐसे ही अन्य निर्मल आचरणों से जो जीव यहाँ पर विभूषित होते हैं, वे पुण्य के परिपाक से शुभ के आश्रयभूत आर्यखण्ड में सत्कुल से युक्त, राज्यादि लक्ष्मी के सुख से भरी हुई मनुष्यगति को प्राप्त करते हैं। (श्री वीरवर्धमानचरिते)

**ऋजुत्वमीषदारम्भपरिग्रहतया सह।**

**स्वभावमार्दवं चैव गुरुपूजनशीलता॥(40)**

**अल्पसंक्लेशता दानं विरतिः प्राणिघाततः।**

**आयुषो मनुष्येति भवन्त्यास्रवहेतवः॥(41)**

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह के साथ परिणामों में सरलता रखना, स्वभाव से कोमल होना, गुरुपूजन का स्वभाव होना, अल्प संक्लेश का होना, दान देना और प्राणिघात से दूर रहना ये मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं।

(तत्त्वार्थसार-चतुर्थाधिकार पृ.120)

**स्वभाव मार्दवं च। (18)**

Natural humble disposition is also the cause of human-age-karma.

**स्वभाव की मृदुता भी मनुष्यायु का आस्रव है।**

उपदेश की अपेक्षा के बिना होने वाली कोमलता स्वाभाविक कहलाती है। मृदु का भाव या कर्म मार्दव है, स्वभाव से होने वाला अर्थात् परोपदेश के बिना होने वाला मार्दव स्वाभाविक मृदुता है। जो जीव स्वाभाविक मृदुता से सहित होते हैं वे भी मनुष्य आयु का आस्रव करते हैं। 17वें सूत्र में मनुष्य आयु के आस्रव का कारण बताने के बाद भी इस सूत्र में अलग से मनुष्य आयु के आस्रव का वर्णन इसलिये किया गया कि स्वाभाविक सरलता से मनुष्य आयु का आस्रव जैसे होता है वैसे ही देव आयु का आस्रव का भी कारण बनता है।

**सब आयुओं का आस्रव**

**निःशील व्रतत्वं च सर्वेषाम। (19)**

Vowlessness and sub vowlessness with slight wordly activity and slight attachment, is cause of inflow of all kinds of

age-karmas.

**शील रहित और व्रत रहित होना सब आयुओं का आस्रव है।**

सूत्र में जो 'च' शब्द है वह अधिकार प्राप्त आस्रवों के समुच्चय करने के लिए है। इससे यह अर्थ निकलता है कि अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह रूप भाव तथा शील और व्रतरहित होना सब आयुओं के आस्रव हैं।

दिग्ब्रत आदि सात शील और अहिंसादि पाँच व्रतों के अभाव से भी यदि कषाय मंद है और लेश्याएँ शुभ हैं तब देव और मनुष्य आदि शुभ आयु का आस्रव होता है और जब कषाय तीव्र है और लेश्याएँ अशुभ रहती हैं तब तिर्यच और नरक आदि अशुभ आयु का आस्रव होता है। इसलिए इस सूत्र में कहा है कि शील रहितता एवं व्रत रहितता से सम्पूर्ण आयु का आस्रव होता है।

### **देव आयु का आस्रव**

**सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरा बालतपांसि देवस्य। (20)**

The inflow of देवायु Celestial age karma is caused by :

(1) सरागसंयम Selfcontrol with slight attachment found in monks only.

(2) संयमासंयमा Restraint of vows of some but not of other passions found in laymen only.

(3) अकामनिर्जरा Equanimous submission to the fruition of karma.

(4) बालतप Austerities not based upto slight knowledge.

**सरागसंयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा और बालतप ये देवायु के आस्रव हैं।**

सरागसंयमादि शुभ परिणाम देवायु के आस्रव के कारण हैं। विस्तार से तो कल्याणकारी धार्मिक मित्रों की संगति, आयतनसेवा, सद्धर्म श्रवण, स्वअगौरवदर्शन, निर्दोष प्रोषधोपवास, तप की भावना, बहुश्रुतत्त्व, आगमपरता, कषायों का निग्रह, पात्रदान, पीत पद्मलेश्या के परिणाम और मरण समय में धर्मध्यान रूप परिणाम आदि शुभ परिणाम सौधर्मादि कल्पवासी देव-आयु के आस्रव के कारण हैं। अव्यक्त सामायिक और सम्यग्दर्शन की विराधना आदि भवनवासी आदि देवों की आयु के

और महर्षिक मनुष्यों की आयु के आस्रव के कारण हैं। पाँच अणुव्रतधारी, सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यच, सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग पर्यंत उत्पन्न होते हैं। यदि पंचाणुव्रत धारक मानव और तिर्यच सम्यग्दर्शन की विराधना कर देते हैं तो वे भवनवासी आदि देवों में उत्पन्न होते हैं। नहीं जाना है जीव-अजीव के स्वरूप को जिन्होंने ऐसे तत्त्वज्ञानशून्य बालतप तपने वाले, अज्ञानी, तत्त्व-कुतत्त्व को नहीं जानने वाले, अज्ञान पूर्वक संयम का पालन करने वाले, क्लेश के अभाव विशेष यानी (मन्द कषाय) के कारण कोई भवनवासी व्यन्तरादि में उत्पन्न होते हैं कोई सौधर्म स्वर्ग से लेकर सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं और कोई इन भावों से मरकर मानव एवं तिर्यच पर्याय में भी उत्पन्न हो सकते हैं। अकामनिर्जरा, भूख-प्यास का सहना, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, पृथ्वी पर शयन, मलधारण (स्नान नहीं करना) परितापादि परीषहों से खेद-खिन्न नहीं होना, गूढ़ पुरुषों के बंधन में पड़ जाने पर भी नहीं घबड़ाना, दीर्घकाल तक रोगी रहने पर भी संक्लेश भाव नहीं करना, वृक्ष या पर्वत के शिखर से झम्पापात करना, अनशन, अग्निप्रवेश, विषभक्षण आदि में धर्म मानने वाले कुतापस मरकर व्यन्तरदेव, मनुष्य और तिर्यचों में उत्पन्न होते हैं। जिन्होंने शील व्रतों को धारण नहीं किया है किन्तु जिनका हृदय अनुकम्पा से ओतप्रोत है, जिनके जलरेखा सदृश रोष है तथा जो भोगभूमि में उत्पन्न हैं, ऐसे तिर्यच और मनुष्य व्यन्तरादि में उत्पन्न होते हैं।

### सम्यक्त्वं च। (21)

Right belief is also the cause of celestial age karmas, but only of the heavenly order.

### सम्यक्त्व भी देवायु का आस्रव है।

विशेष कथन न होने पर भी पृथक् सूत्र होने से सौधर्मादि विशेष गति जाननी चाहिये। सम्यक्त्व देवायु के आस्रव का कारण है, ऐसा सामान्य कथन होने पर भी सम्यग्दर्शन, सौधर्मादि कल्पवासी देव सम्बन्धी आयु के आस्रव का कारण है, यह समझना चाहिए। क्योंकि पृथक् सूत्र से यह ज्ञात होता है। यदि सामान्य रूप से सम्यग्दर्शन देव आयु के आस्रव का कारण इष्ट होता तो पृथक् सूत्र की रचना व्यर्थ होती। क्योंकि पूर्व सूत्र में ही देवायु के आस्रव के कारण कहे हैं।

सम्यक्त्व के साथ नियम है कि सम्यग्दृष्टि सौधर्मादि विमानवासी देवों की आयु

का ही बंध करता है, अन्य आयु का नहीं, उसी प्रकार सरागसंयम और संयम का भी नियम है कि वे भी स्वर्गों की आयु का बंध करते हैं। क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सरागसंयम और संयमासंयम की उत्पत्ति नहीं है अर्थात् सम्यक्त्व के अभाव में सरागसंयम और संयमासंयम नहीं हो सकते।

## अशुभ नामकर्म का आम्रव

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः। (22)

The inflow of अशुभनाम bad body-making karma is caused by a non-straight forward or deceitful working of the mind, body or speech or by विसंवाद Wrangling, etc. wrong-belief, envy, back-biting, self-praise, censuring and other etc.

योग वक्रता और विसंवाद ये अशुभ नामकर्म के आम्रव हैं।

मन में कुछ सोचना, वचन से कुछ दूसरे प्रकार से कहना और काय से भिन्न रूप से ही प्रवृत्ति करना योग वक्रता है। मन, वचन और काय का व्याख्यान पहले किया जा चुका है, उनकी कुटिलता योग वक्रता कहलाती है। अनार्जव का प्रयत्न ही कुटिलता है।

अन्यथा प्रवृत्ति करना, कराना विसंवादन है। दूसरों को अन्यथा प्रवृत्ति कराना, वस्तु के स्वरूप का अन्यथा प्रतिपादन करना अर्थात् श्रेयोमार्ग पर चलने वालों को उस मार्ग की निन्दा करके बुरे मार्ग पर चलने को कहना विसंवादन है।

## परिग्रह रूपी हिंसा

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषेः।

मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्व-परिणामः॥ (111)

अथं पंचमं व्रतं दर्शयति। मूर्च्छनं मूर्च्छा। इयं या मूर्च्छा हि निश्चितं एषः प्रत्यक्षीभूतः परिग्रहः नाम विज्ञातव्यः। परिग्रहयतेऽसौ परिग्रहः। या मूर्च्छाऽसौ परिग्रहः इत्यर्थः। कथंभूतः परिग्रहः? मोहोदयात् उदीर्णः मोहनीय कर्मोदयात् उदयं आगतः। तु पुनः मूर्च्छा ममत्व परिणामः। बाह्याऽभ्यन्तर-परिग्रह-रक्षणे उपार्जने अधिकः करणे व्यापारः मनोभिलाषः मूर्च्छा भण्यते तेन कारणेन ममत्वमेव परिग्रहः। परिग्रहात् मूर्च्छा अनयोः परस्परं सम्बन्धोऽस्ति।



Attachment itself should be understood to be parigraha. Attachment is affectionate regard arising from the operation of Moha Karma.

**अन्वयार्थ-**(या) जो (इयं) यह (मूर्छा नाम) मूर्छा है (एषः हि) यह ही (परिग्रहः) परिग्रह (ज्ञातव्यः) जाननी चाहिए (तु) तथा (मोहोदयात्) मोहनीयकर्म के उदय से (उदीर्णः) उत्पन्न हुआ (ममत्व परिणामः) ममत्वरूप परिणाम (मूर्च्छा) मूर्च्छा कहलाता है।

**व्याख्या-भावानुवाद-**यहाँ पर पंचम व्रत का दिग्दर्शन कर रहे हैं। मूर्च्छित (बेहोश) होना मूर्च्छा है। यह मूर्च्छा निश्चय रूप से प्रत्यक्षः परिग्रह नाम से जानना चाहिए। जो चारों ओर से ग्रहण किया जाता है उसे परिग्रह कहते हैं। जो मूर्च्छा है वही परिग्रह है। यह मूर्च्छा मोह के उदय एवं उदीरणा से होती है। यह मूर्च्छा ममत्व परिणाम है। बाह्य एवं आभ्यंतर परिग्रह के रक्षण में, उपार्जन में, वृद्धि में, व्यापार में मन की जो अभिलाषा है, आसक्ति है, तृष्णा या गृह्यता है उसे ममत्व रूप परिग्रह कहते हैं। मूर्च्छा एवं परिग्रह में परस्पर संबंध है।

**समीक्षा-**आचार्यश्री उमास्वामी ने भी कहा है-मूर्च्छा परिग्रह है। बाह्याभ्यंतर उपधि (परिग्रह) के रक्षण आदि के व्यापार को मूर्च्छा कहते हैं। गाय, भैंस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन बाह्य परिग्रह के और राग-द्वेषादि आभ्यंतर परिग्रह के संरक्षण, अर्जन, संस्कारादि लक्षण व्यापार को मूर्च्छा करते हैं।

आभ्यंतर ममत्व परिणाम रूप मूर्च्छा को परिग्रह कहने पर बाह्य पदार्थों में परिग्रहत्व का प्रसंग नहीं होना चाहिए, क्योंकि आभ्यंतर परिग्रह ही प्रधानभूत है। अर्थात् यह मेरा है इस प्रकार का संकल्प रूप आध्यात्मिक परिग्रह है, वही प्रधानभूत है अतः मूर्च्छा से मुख्यतया आभ्यंतर परिग्रह के कारणभूत गौण रूप बाह्य परिग्रह का ग्रहण तो हो ही जाता है। मूर्च्छा का कारण होने से बाह्य पदार्थ के भी मूर्च्छा व्यपदेश होता है। जैसे-“अन्न ही प्राण है” इस प्रकार प्राणों की स्थिति में कारणभूत अन्न में प्राणों का उपचार किया जाता है, उसी प्रकार मूर्च्छा का कारण (ममत्व का कारण) होने से बाह्य परिग्रह को भी मूर्च्छा कह देते हैं। अर्थात् कारण में कार्य का उपचार किया जाता है।

प्रमत्तयोग का अधिकार होने से, ज्ञान, दर्शन और चारित्र में होने वाला ममत्व भाव परिग्रह नहीं है। क्योंकि निष्प्रमादी ज्ञान, दर्शन और चारित्रवान व्यक्ति के मोह का

अभाव है। अतः निष्प्रमादी व्यक्ति के चारित्र का ममत्व मूर्च्छा नहीं है और उसके निष्परिग्रहत्व सिद्ध होता है अथवा, ज्ञानादि तो आत्मा के स्वभाव हैं, आश्रेय हैं। अतः वे ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि परिग्रह हो ही नहीं सकते। उनमें तो अपरिग्रहत्व है। रागादि तो कर्मोदयजन्य हैं, अनात्म-स्व-परभाव हैं और हेय हैं। इसलिये इसमें होने वाला 'ममेद' संकल्प परिग्रह है। अर्थात् रागादि को परिग्रह कहते हैं।

परिग्रह ही सर्व दोषों का मूल कारण है। यह परिग्रह ही समस्त दोषों का मूल है। यह मेरा है ऐसा संकल्प होने पर ही उसके रक्षण आदि की व्यवस्था करनी होती है और उसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है, उस परिग्रह के लिए झूठ भी बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्म में भी प्रयत्न करता है, अर्थात् परिग्रहाभिलाषी व्यक्ति सर्व कुकर्म करता है। इस परिग्रह के ममत्व के कारण नरकादि में अनेक प्रकार के दुःख भोगता है, इस लोक में भी निरंतर दुःख रूपी महासमुद्र में अवगाहन करता है, अर्थात् सैकड़ों दुःख भोगता है।

### मूर्च्छावान ही परिग्रहवान

मूर्च्छा-लक्षण कारणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।

सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनाऽपि किल शेष संगेभ्यः॥ (112)

मूर्च्छायाः लक्षणं परिग्रहरूपं तस्य कारणात् भवनात् परिग्रहस्य द्विविधः लक्षणस्य व्याप्तिः व्यापकता सुघटा सुलभा। यत्र तत्र मूर्च्छा तत्र तत्र परिग्रहः इत्येवं रूपा व्याप्ति अतः कारणात् मूर्च्छावान् ममत्व-परिणाम सहितो जीवः किल इति निश्चयेन शेष संगेभ्यः विनाऽपि बाह्यपरिग्रहं विनापि सग्रन्थः परिग्रहवान् भवति। तेन मुख्यतया रागादि-मनोभिलाषः परिग्रहः।

This definition of parigraha as attachment is comprehensively inclusive. One who is under the influence of attachment is, although he has renounced all other possessions, "with property."

व्याख्या-भावानुवाद-परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा होने के कारण दोनों प्रकार के परिग्रह में इस लक्षण की व्यापकता सुघटित हो जाती है। जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है वहाँ-वहाँ परिग्रह अवश्य है। इसी प्रकार व्याप्ति होने के कारण मूर्च्छावान व्यक्ति ममत्व परिणाम सहित होने के कारण शेष परिग्रह से रहित होने पर भी वह परिग्रहवान होता ही है। इसलिये रागादि अभिलाषा से युक्त व्यक्ति मुख्यता परिग्रहवान है।

## बाह्य परिग्रहधारी भी मूर्च्छावान्

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरंगः।

भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छा निमित्तत्वम्॥ (13)

यद्येवं यदि मूर्च्छारूपं भवति तदा खलु निश्चयेन कोऽपि परिग्रहः बहिरंगः बहिः अंगानि यस्य बाह्यनिमित्तं परिग्रहो न भवति। बाह्यः धनादिरूपः परिग्रहो न यतः यस्मात् कारणात् असौ परिग्रहः मूर्च्छा निमित्तत्वं ममत्व परिणाम कारणत्व धत्ते।

If this be so, then there can be no external parigraha at all. It certainly is the cause of attachment.

**अन्वयार्थ-**(यदि एवं) यदि इस प्रकार है अर्थात् परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा ही किया जाता है (तदा) उस अवस्था में (खलु कोऽपि बहिरंगः परिग्रहो न भवति) निश्चय से कोई भी बहिरंग, परिग्रह, परिग्रह नहीं ठहरता है इस आशंका के उत्तर में आचार्य उत्तर देते हैं कि (भवति) बाह्य परिग्रह भी परिग्रह कहलाता है (यतः) क्योंकि (असौ) यह बाह्य परिग्रह (नितरां) सदा (मूर्च्छानिमित्तत्वं) मूर्च्छा का निमित्त कारण होने से अर्थात् यह मेरा है ऐसा ममत्व परिणाम बाह्य परिग्रह में होता है इसलिये वह भी मूर्च्छा के निमित्तपने को (धत्ते) धारण करता है।

**व्याख्या-भावानुवाद-**यद्यपि मूर्च्छा रूप अंतरंग परिणाम ही निश्चय से परिग्रह है इसलिये बाह्य परिग्रह वस्तुतः परिग्रह नहीं होता है। परन्तु जो धनादि रूप परिग्रह को रखता है वह निश्चय से अंतरंग से ममत्व परिणाम से युक्त होकर ही रखता है।

**समीक्षा-**तीर्थकर भगवान् जिस समोवशरण में विराजमान होते हैं उस समोवशरण में चक्रवर्ती की संपत्ति/विभूति से भी अधिक संपत्ति/विभूति रहती है। एक चक्रवर्ती के पास केवल नवनिधि तथा चौदह रत्न के एक-एक सेट (समुच्चय) होते हैं परन्तु समोवशरण में तो ऐसे अनेक सेट पड़े रहते हैं। भगवान् न सिंहासन में बैठते हैं, न रत्न कमल में बैठते हैं बल्कि रत्न कमल से चार अंगुल ऊपर विराजमान होते हैं। इस प्रकार वे शारीरिक रूप से भी उस वैभव को स्पर्श नहीं करते हैं। इसके साथ-साथ वे संपूर्ण मोह, लोभ, इच्छा से रहित होने के कारण तथा अंतरंग अनंत वैभव से युक्त होने के कारण उस समोवशरण के वैभव के मध्य होने पर भी वे उससे निर्लिप्त रहते हैं, पूर्ण अपरिग्रहधारी होते हैं। परन्तु यह उदाहरण अन्य मोह से सहित राग से युक्त

तृष्णावान जीवों के लिए घटित नहीं होता है क्योंकि ऐसे जीव के पास जो परिग्रह होता है वह अंतरंग राग के कारण ही, इच्छा के कारण ही मूर्च्छा के निमित्त से ही संभव होता है। बिना अंतरंग ममत्व परिणाम से कोई बहिरंग परिग्रह रख ही नहीं सकता है।

## वीतरागी ही अपरिग्रही

**एवमतिव्याप्तिः स्यात् परिग्रहस्येति चेद्भवे नैवम्।**

**यस्मादकषायाणां कर्म ग्रहणे न मूर्च्छाऽस्ति।। (14)**

This is over lapping and will include the drawing in of karmic molecules by passionless saints as Parigraha. This is not so, because there is no attachment.

**व्याख्या-भावानुवाद-**यद्यपि मूर्च्छा होने पर मुनियों के भी कर्म ग्रहण से अतिव्याप्ति व्यापकता होगी। ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्यश्री उत्तर दे रहे हैं कि व्यापकता नहीं होगी क्योंकि कषाय रहित बारहवें-तेरहवें गुणस्थानवर्ती मुनिनाथों के कर्मग्रहण में ममत्व नहीं है। अतः परिग्रह नहीं होता है क्योंकि प्रमत्त योग से ही परिग्रहवान जीव होता है। जिसका प्रमाद का अभाव हो जाता है वह अपरिग्रहवान होता है। सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय से युक्त, प्रमाद से रहित मुनि की मनोभिलाषा लक्षण स्वरूप मूर्च्छा नहीं है इसलिये परिग्रह रहित है। ज्ञान आदि आत्मा के स्वभाव हैं राग आदि अनात्म स्वभाव है। आत्मज ज्ञान आदि उपादेय है। ज्ञान आदि आत्म-स्वभाव तथा उपादेय होने के कारण रत्नत्रय से युक्त मुनि अपरिग्रही है। राग आदि कर्म उपाधि से जायमान होते हैं इसलिये वे हेय है। अनात्म-स्वभाव होने के कारण जो त्याग किया जाता है वह परिग्रह है हेय रूप होने के कारण। आहारादि चारों संज्ञा से युक्त भी परिग्रहवान कहा गया है। अतः प्रमाद अभाव से कर्म ग्रहण से भी परिग्रह नहीं है।

**समीक्षा-श्लोक नं. 105** में आचार्यश्री ने वीतरागी मुनियों के कर्मग्रहण को भी जैसे अचौर्य कहा था इसी प्रकार यहाँ पर उन्हें अपरिग्रही भी कहा है। वहाँ चौर्य का प्रकरण होने के कारण अचौर्य कहा था यहाँ परिग्रह का प्रकरण होने के कारण अपरिग्रही कहा। विशेष वर्णन श्लोक नं. 105 की समीक्षा में किया गया है। इसी प्रकार वीतरागी मुनि अहिंसक, ब्रह्मचारी और सत्यनिष्ठ होते हैं।

## परिग्रह के भेद

अति-संक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।

प्रथमश्चतुर्दश-विधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु।। (15)

स परिग्रहः अतिसंक्षेपात् द्विविधः भवति। परिग्रहस्य द्विभेदमाह। आभ्यन्तरः च पुनः बाह्यः। प्रथमः आभ्यन्तर-परिग्रहः यो वर्तते, अग्रे वक्ष्यमाणश्चतुर्दश भेदो भवति। द्वितीयः बाह्यपरिग्रह-द्विविधः चेतनाऽचेतनात्मको भवति।

Very briefly speaking, Parigraha is of two kinds, internal and external. The first is of 14 kinds, and the second is of two kinds.

**व्याख्या-भावानुवाद-**वह परिग्रह संक्षेप से दो प्रकार का है-(1) आभ्यन्तर, (2) बाह्य। प्रथम आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद हैं जिनका वर्णन आगे किया गया है। द्वितीय बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है-एक चेतनात्मक व दूसरा अचेतनात्मक।

**समीक्षा-**बाह्य परिग्रह के प्रकारान्तर से 10 भेद भी होते हैं जो कि निम्न प्रकार से हैं।

1. क्षेत्र-चावल आदि धान्यों की उत्पत्ति का स्थान।
2. वास्तु-आगार, भवन, घर।
3. हिरण्य-चाँदी आदि का व्यवहार। रजत के व्यवहार तंत्र को हिरण्य कहते हैं अथवा सोने के सिक्के आदि को भी हिरण्य कहते हैं।
4. सुवर्ण-व्यवहार में आने वाला सोना प्रसिद्ध (ज्ञात) ही है।
5. धान्य-चावल, गेहूँ, मूँग, तिल आदि।
- 6-7. दासीदास-नौकर, स्त्री-पुरुष वर्ग।
8. कुप्य-कपास एवं कोसे आदि का वस्त्र और चन्दन आदि वस्तुएँ।
9. धन-गाय, बैल, अश्व आदि चतुष्पदि पशु समूह।
10. भाण्ड-पीतल, सुवर्ण, स्टील, लोह इत्यादि निर्मित भाजन समूह।

## अंतरंग परिग्रह के 14 भेद

अथ चतुर्दश परिग्रह-स्वरूपं दर्शयन्नाह

मिथ्यात्व-वेद रागास्तथैव हास्यादयश्च षट् द्वेषाः।

चत्वारश्च कषायाः चतुर्दशाऽभ्यन्तरा ग्रंथाः।। (16)

The fourteen internal possessions, attachments, are wrong

belief, sexual inclinations, the six defects, laughter etc. and the four passions.

**व्याख्या-भावानुवाद-**चौदह प्रकार के परिग्रह होते हैं। यथा मिथ्यात्व जो कि सम्यक्त्व के विपरीत है, पुरुष-स्त्री-नपुंसक वेद, द्वेष के विपरीत राग उसी प्रकार हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी कषाय-इस प्रकार आभ्यंतर परिग्रह के 14 भेद होते हैं।

**समीक्षा-**आत्मा के शुद्ध परिणाम को छोड़कर समस्त सचित्त, अचित्त, मिश्र, द्रव्य तथा उनकी पर्याय परिग्रह के अंतर्गत है। इस श्लोक में अभ्यंतर वैभाविक परिणामों को अंतरंग परिग्रह कहा गया है। मुख्यतः इस श्लोक में आचार्यश्री ने दर्शन मोहनीय, कषाय मोहनीय तथा नौ कषाय मोहनीय को अभ्यंतर परिग्रह में गर्भित किया है।

सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मिथ्यात्व के भेद से दर्शन मोहनीय तीन प्रकार का है। कषाय और अकषाय के भेद से चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद के भेद से अकषाय वेदनीय नौ प्रकार की है। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषाय वेदनीय के 16 भेद हैं।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं-सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व मिथ्यात्व। यह दर्शन मोहनीय बंध की अपेक्षा एक होकर भी सत्ता कर्म की अपेक्षा तीन भेद को प्राप्त होती है अर्थात् बंध तो केवल मिथ्यात्व का ही होता है परन्तु सम्यग्दर्शन रूप घन की चोट लगने से उस मिथ्यात्व के तीन टुकड़े हो जाते हैं। अतः सत्ता की अपेक्षा तीन और बंध की अपेक्षा एक भेद होने वाली दर्शन मोहनीय है। जिस कर्म के उदय से प्राणी सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग से पराङ्मुख, तत्त्वार्थ श्रद्धान में निरुत्सुक, हिताहित का विवेक करने में असमर्थ और मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व है। शुभ परिणामों से जब उसका अनुभाग रोक दिया जाता है और जो उदासीन रूप से स्थित रहकर आत्म-श्रद्धान को नहीं रोकता है, वह सम्यक्त्व कहलाता है। उस सम्यक्त्व का वेदन करने वाला जीव सम्यक्-दृष्टि कहलाता है। वही मिथ्यात्व जब प्रक्षालन विशेष से क्षीणाक्षीण मदशक्ति वाले कोदों के समान आधा शुद्ध और आधा अशुद्ध रस वाला

होता है तब वह मिश्र उभय या सम्यक्त्व मिथ्यात्व कहलाता है। जिसके उदय से आत्मा के आधे शुद्ध कोदों से जिस प्रकार का मद होता है उसी तरह के मिश्र भाव होते हैं।

**चारित्र मोहनीय के दो भेद-कषाय और अकषाय के भेद से चारित्र मोहनीय दो प्रकार का है। अकषाय का अर्थ कषाय का निषेध नहीं है अर्थात् इसमें 'अ' निषेध अर्थ में नहीं है, परन्तु 'ईषद्' किंचित् अर्थ में 'नञ्' समास है।**

**अकषाय वेदनीय के नौ भेद-हास्यादि के भेद से अकषाय वेदनीय नौ प्रकार की है।**

(1) **हास्य कर्म**-जिसके उदय से हास्य का प्रादुर्भाव होता है वा हँसी आती है, हास्य कर्म है।

(2) **रतिनामकर्म**-जिसके उदय से देशादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि) में उत्सुकता होती है, उनके प्रति अनुराग होता है वह रति नाम कर्म है।

(3) **अरति कषाय**-जिसके उदय से देशादि में अनुत्सुकता होती है, उनमें प्रीति नहीं होती है वह अरति कषाय है।

(4) **शोक**-जिसके उदय से शोचन होता है, वह शोक है।

(5) **भय**-जिसके उदय से उद्वेग होता है, वा सात प्रकार का भय होता है, वह भय नौ कषाय है।

(6) **जुगुप्सा**-कुत्सा, ग्लानि को जुगुप्सा कहते हैं यद्यपि जुगुप्सा कुत्सा का ही एक प्रकार है फिर भी कुछ अर्थविशेष की उत्पत्ति होने से इनमें अंतर है। अपने दोषों को ढकना जुगुप्सा है।

(7) **स्त्रीवेद**-जिस नौ कषाय के उदय से कोमलता, अस्फुटता, क्लीवता, कामावेश, नेत्रविभ्रम, आस्फालन, पुरुष की इच्छा आदि स्त्री भावों को आत्मा प्राप्त होती है वह स्त्रीवेद है। जब स्त्रीवेद का उदय होता है तब इतर पुरुष और नपुंसकवेद कर्म की सत्ता गौण रूप से अवस्थित रहती है।

**प्रश्न**-लोक में योनि, मृदु स्तनादि चिह्न से स्त्रीवेद की प्रतीति होती है।

**उत्तर**-शरीर में जो स्तन, योनि आदि चिह्न है वे नामकर्म के उदय के कारण होते हैं। अतः द्रव्य से पुरुषवेद का उदय होने पर भी भाव से स्त्रीवेद का वा नपुंसकवेद का उदय हो सकता है। द्रव्य स्त्रीवेद के उदय में भाव पुरुष या नपुंसक का

तथा द्रव्य से नपुंसकवेद का उदय होने पर भी आभ्यन्तर विशेष भाव की अपेक्षा पुरुष और स्त्रीवेद का उदय हो सकता है। शरीर आकार तो नामकर्म की रचना है और भाववेद मोहनीय कर्म के उदय से होता है, इस प्रकार इन दोनों का वर्णन है।

(8) **पुरुषवेद**-जिस कर्म के उदय से आत्मा पुरुष भाव को प्राप्त होता है वह पुरुषवेद है।

(9) **नपुंसकवेद**-जिस कर्म के उदय से नपुंसक भावों को प्राप्त होता है, यह नपुंसक वेद है।

कषाय वेदनीय सोलह प्रकार की है-क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय चार प्रकार की है।

(1) **क्रोध**-अपने और पर के उपघात अनुपकार आदि से आहित (प्राप्त) क्रूर परिणाम या अमर्ष भाव क्रोध है। यह क्रोध पर्वत रेखा, पृथ्वी रेखा, धूलि रेखा और जल रेखा के समान चार प्रकार का है।

(2) **मान**-जाति, ज्ञान, कुल, शरीर, तप, पूजा, ऐश्वर्य आदि के मद के कारण दूसरों के प्रति नमने की वृत्ति नहीं होना मान कषाय है। यह मान शैल स्तंभ, अस्थि सतंभ, दारू (लकड़ी) स्तंभ और लता समान भेद से चार प्रकार का है।

(3) **माया**-दूसरों को ठगने के लिए जो छल, कपट और कुटिल भाव होते हैं वह माया है। यह माया, बाँस वृक्ष की गँठीली जड़, मेष (मेढ़े) की सींग, गाय के मूत्र रेखा और अवलेखनी खुरपा आदि के सदृश चार प्रकार की है।

(4) **लोभ**-जीव के अनुग्राहक-उपकारक धन आदि की विशेष आकांक्षा लोभ है। कृमिराग, कज्जल, कर्दम (कीचड़) और हरिद्रा (हल्दी) के राग सदृश भेद से लोभ, चार प्रकार का है। इन क्रोध, मान, माया और लोभ की चार-चार अवस्थाएँ हैं। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

1. **अनंतानुबंधी**-अनंत संसार का कारण होने से मिथ्यादर्शन को अनंत कहते हैं। उस अनंत (मिथ्यात्व) को बाँधने वाली (वा उसका अनुसरण करने वाली) कषाय अनंतानुबंधी कहलाती है अर्थात् मिथ्यादर्शन को बाँधने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ अनंतानुबंधी है।

2. **अप्रत्याख्यानारण**-जिसके उदय से यह प्राणी ईषत् (अल्प) भी देशविरत



संयमासंयम नामक व्रत को स्वीकार नहीं कर सकता, स्वल्प मात्र भी व्रत प्राप्त नहीं कर सकता वह देशविरत प्रत्याख्यान का आवरण करने वाली अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है।

**3. प्रत्याख्यानावरण-**जिसके उदय से सकल विरति और सकल संयम को धारण नहीं कर सकता, वह समस्त प्रत्याख्यान-सर्व त्याग को रोकने वाली कषाय प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ हैं।

**4. संज्वलन-**जो 'सम' अर्थात् एकीभाव से संयम के साथ सहावस्थान होने से एकीभूत होकर जलती रहे, अथवा जिसके रहने पर भी संयम हो सकता है, वह संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय है। इस प्रकार इनका समुदाय करने पर 16 कषाय होती है।

### बाह्य परिग्रह के भेद

अथ निश्चित्त सचित्तौ, बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।

नैषः कदाचित्संगः, सर्वोप्यतिवर्तते हिंसाम्॥ (17)

External Parigraha is of two kinds with reference to living and non-living objects. All this Parigraha never excludedes Himsa.

**व्याख्या-भावानुवाद-**बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है। उस परिग्रह के दो भेद हैं। वे हैं-(1) अचेतन परिग्रह (2) सचेतन परिग्रह। जिस प्रकार आभ्यंतर परिग्रह हिंसा के लिए कारण है उसी प्रकार बाह्य परिग्रह भी कदाचित् हिंसा के लिए कारण होता है। जब बाह्य परिग्रह प्रमत्त योग से सहित होता है क्योंकि प्रमत्त योग से प्राण व्यपरोपण रूप हिंसा का उल्लंघन नहीं होता है। भावार्थ यह है कि स्त्री, पशु, दास-दासी आदि चेतन परिग्रह तथा धन-धान्य आदि अचेतन परिग्रह में निश्चित रूप से हिंसा होती ही है।

### परिग्रह की सत्ता असत्ता में हिंसा-अहिंसा

उभय-परिग्रह-वर्जनमाचार्योः सूचयत्यहिंसेति।

द्विविध-परिग्रह वहनं, हिंसेति जिन-प्रवचनज्ञाः॥ (18)

जिन प्रवचनं जानंति ते जिन प्रवचनज्ञाः जिनवचन ज्ञातारो मुनयः द्विविधश्चासौ परिग्रह वहनं द्विविध-परिग्रह वहनं द्विविध परिग्रहस्य धारणं। हिंसा इति नाम सूचयंति प्रकाशयंति आचार्याः पंचाचार परायणाः मुनयः।

उभय परिग्रह-वर्जनं द्विविध परिग्रह मोचनं अहिंसादय इति नाम सूचयन्ति कथयन्ति।

The Acharyas (preceptor saints), who are well versed in Jain philosophy, call the renunciation of Parigraha of both sorts as Ahimsa, and the appropriation of Parigraha of two sorts as Himsa.

**अन्वयार्थ-**(जिनप्रवचनज्ञाः) जिनेन्द्र भगवान् के उपदिष्ट आगम को जानने वाले (आचार्याः) श्री परमगुरु आचार्य महाराज (उभयपरिग्रहवर्जन) सचित्त अचित्त इन दोनों प्रकार के परिग्रहों को छोड़ना (हिंसा इति सूचयन्ति) हिंसा है ऐसा सूचित करते हैं।

**व्याख्या-भावानुवाद-**जिन प्रवचन को जानने वाले पंचाचार परायण आचार्य दोनों प्रकार के परिग्रह को ग्रहण करना हिंसा कहा है तथा दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग अहिंसा कहा है।

**समीक्षा-**

**हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्टम्हि।**

**बंधो धुवमुबधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं।। (219) प्र.सार**

(कायचेट्टम्मि) शरीर से हलन-चलन आदि क्रिया के होते हुए (जीवमदे) किसी जन्तु के मर जाने पर (हि) निश्चय से (बांधो हवदि) कर्मबंध होता है (वा ण हवदि) अथवा नहीं होता है (अध) परन्तु (उवधीदो) परिग्रह के निमित्त से (बंधो धुवं) बंध निश्चय से होता ही है (इदि) इसीलिये (समणा) साधुओं ने (सव्व) सर्व परिग्रह को (छड्डिया) छोड़ दिया।

साधुओं ने व महाश्रमण सर्वज्ञों ने पहले दीक्षाकाल में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव मई अपनी आत्मा को ही परिग्रह मानकर शेष सर्व बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह को छोड़ दिया ऐसा जानकर के अन्य साधुओं को भी अपने परमात्म स्वभाव को ही अपना परिग्रह स्वीकार करके शेष सर्व ही परिग्रह को मन, वचन,काय और कृत, कारित अनुमोदना से त्याग देना चाहिए। यहाँ यह कहा गया है कि शुद्ध चैतन्य रूप निश्चय प्राण का घात जब राग-द्वेष आदि परिणाम रूप निश्चय हिंसा से किया जाता है तब नियमसे बंध होता है। पर जीव के घात हो जाने पर बंध हो वा न भी हो, नियम नहीं है, किन्तु परद्रव्य में ममतारूप मूर्च्छा परिग्रह से तो नियम से बंध होता ही है।

इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद भगवंत ने एक महान् आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया है। शांत, स्वाभाविक, शुद्धि स्वभाव का हनन जिन राग, द्वेष, मोह, ममत्व, इच्छादि भावों से होता है उसे ही निश्चय से हिंसा कहते हैं अर्थात् वैभाविक भाव ही हिंसा है एवं स्वभाव ही अहिंसा है। वैभाविक भावों से रहित जीव की काय की क्रिया से यदि कोई जीव मर जाता है तथापि उसे हिंसा का दोष नहीं लगेगा। इसलिये द्रव्य-हिंसक, भाव-अहिंसक हो सकता है, परन्तु जो बाह्य परिग्रहधारी है वह अवश्य अंतरंग परिग्रहधारी है। क्योंकि बिना अंतरंग के मोह, ममत्व, तृष्णा, लोभ के बाह्य परिग्रह को नहीं स्वीकार कर सकता है और मोह, ममत्वादि ही यथार्थ से हिंसा है। इसलिये परिग्रहधारी अवश्य हिंसक है और उसे कर्मबंध होता है। परन्तु द्रव्य-हिंसक कथंचित् अहिंसक होने से उसे कर्मबंध नहीं होता है। इस दृष्टि से हिंसक से भी महाहिंसक परिग्रहधारी है। इसलिये अमृतचंद्र सूरि ने इस गाथा की टीका में कहा है कि परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता है, ऐसा जो परिग्रह का सर्वथा अशुद्धोपयोग के साथ अविनाभाविपना है। उससे प्रसिद्ध होने वाले निश्चय अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह से तो बंध निश्चित है। इसलिये अभी तक जितने भगवान् बने पहले वे परिग्रह को त्यागकर के ही अहिंसक बने। समंतभद्र स्वामी ने कहा भी है-

**अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं।**

**न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।।**

**ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं।**

**भवानेवात्याक्षीत्रं च विकृतवेषोपधिरतः।। (4) पृ. 132 स्वयंभू.**

हे भगवन्! प्राणियों की अहिंसा जगत् में परम ब्रह्म रूप से प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है परन्तु वह अहिंसा उस आश्रय विधि में नहीं है जिसमें थोड़ा भी आरंभ होता है। इसलिये उस अहिंसा धर्म को सिद्धि के लिए परम दयालु होकर आपने ही बाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़ा है और यथाजात-लिंग के विरोधी वेष तथा परिग्रह से आसक्त नहीं हुए है।

अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रह पर स्वरूप है। जहाँ पर संयोग है, वहाँ बंध है जहाँ बंध है वहाँ दुःख ही दुःख है। इसलिये मुमुक्षु परिग्रह को दुष्टग्रह, ग्राह (मगरमच्छ) से भी अधिक दुःखदायी मानकर त्याग कर देते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है-

**परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।**

**अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।। (45)** पृ. 209 इष्टोपदेश

देहादि पर पदार्थ तो पर ही है उन्हें अपना मानने से दुःख होता है किन्तु आत्मा, आत्मा ही है-आत्मा पदार्थ अपना है। वह अपना ही रहेगा वह कदाचित् भी देहादिरूप नहीं हो सकता-उसे अपनाने से सुख प्राप्त होता है। इसीलिये तीर्थकरादि महापुरुषों ने आत्मा के लिए ही उद्योग किया है-विविध घोर तपश्चरण के अनुष्ठान द्वारा आत्म तत्त्व की प्राप्ति की है।

**अविद्वान् पुद्गल द्रव्य योऽभिनन्दति तस्य तत्।**

**न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति।। (46)**

अज्ञानी जीव पुद्गल द्रव्य को अपना मानता है अतएव पुद्गल द्रव्य चारों गतियों में आत्मा का संबंध नहीं छोड़ता-वह बराबर साथ बना रहता है।

परिग्रह बहुत बड़ी हिंसा एवं बहुत बड़ा पाप होने पर भी आज स्वयं को जैन धर्मावलंबी मानने वाले आनुसंगिक द्रव्यहिंसा को तो बहुत बड़ा पाप मानते हैं, परन्तु परिग्रह को हिंसा या पाप नहीं मानते हैं वे परिग्रह को तो पुण्य मानते हैं, शान, स्वाभिमान की वस्तु मानते हैं, जो अन्याय पूर्ण प्रणाली से यथा-मिलावट, शोषण, ठगबाजी, धोखाधड़ी आदि से भी धन कमाकर धन्नासेठ बन जाते हैं, उसे लोग पुण्यशाली धार्मिक मानते हैं और उसके अनैतिक पूर्ण, अन्यायपूर्ण, अधार्मिक व्यवहार को भी भय के कारण सहन करते हैं परन्तु प्रतिवाद नहीं करते, निराकरण नहीं करते हैं। कुछ व्यक्ति दानादि करके अपना नाम कमाने के लिए, अहंकार की पुष्टि के लिए अन्याय से भी धन कमाते हैं और इस अन्यायपूर्ण धन से यदकिंचित् दान देकर स्वयं को धार्मिक एवं दानी मानते हैं। इतना ही नहीं, इस दान के पीछे सेलटेक्स चोरी, इन्कमटेक्स चोरी समाज के ऊपर प्रभाव डालना, अपना वर्चस्व कायम करना आदि कुभावना भी निहित रहती है। हमारे आचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि दान देने के लिए भी धन कमाना मानो स्नान करके शरीर को स्वच्छ करने के बहाने से शरीर को मल से लिप्त करना है। यथा-

**त्यागाय श्रेयसे वित्तमवितः संचिनोतियः।**

**स्वशरीरं स पङ्केन स्नास्यामीति विलिम्पति।। (16)** पृ. 18 इष्टोपदेश

जो निर्धनी पुरुष, पुण्य प्राप्ति होगी ऐसा विचार कर दान करने के लिए धन

कमाता या जोड़ता है, वह स्नान कर लूँगा ऐसे ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ से लपेटता है। जो निर्धनी ऐसा ख्याल करे कि पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिये पात्रदानादि करने के लिए धन कमाना चाहिए, नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिए कि वह स्नान कर डलूँगा ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को स्नान कर लूँगा का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले तो वह बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुआ व्यक्ति को भी समझना चाहिए। संस्कृत टीका में यह भी लिखा है कि चक्रवर्ती आदि को की तरह जिसको बिना यत्न किये हुए धन की प्राप्ति हो जाय तो वह उस धन से कल्याण के लिए पात्रदानादि करे तो करे। फिर किसी को भी धन का उपार्जन शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं सकता जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा भी है-

“शुद्धैर्धनैविवर्धन्ते, सतामपि न संपदः।

न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥”

“सत्पुरुषों की संपत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षा में गंदले पानी से भी भरी रहती हैं।”

कोई प्रश्न कर सकता है कि फिर श्रावक को दानादि में भी धन खर्च नहीं करना चाहिए यह भाव निकलता है? परन्तु रहस्य यह है कि परिग्रह पाप है और परिग्रहधारी हिंसक है इसलिये समग्रता से संपूर्ण परिग्रह त्याग करना चाहिए। यदि संपूर्ण त्याग नहीं कर पाता है तो परिग्रह अणुव्रत को धारण करे। इस अणुव्रत में भी जो पाप संचय होता है इसके साथ अन्य-अन्य गृहस्थ संबंधी पाप को कम करने के लिए निर्लोभता से, त्याग को बढ़ाने के लिए न्याय से कमाये धन से यथाशक्ति ज्ञान, औषधि आहारादि दान दे। यदि परिग्रहधारी होकर भी दानादि नहीं करता है तो और भी महान् पापी है, लोभी है। दान से हिंसा स्वरूप लोभ को निरासन किया जाता है और जो दान नहीं देता है वह लोभ रूपी हिंसा को करता है।

## परिग्रह में हिंसा

हिंसा पर्यायत्वात्, सिद्धा हिंसाऽतरंग संगेषु।

बहिरंगेषु तु नियतं, प्रयायु मूर्च्छैव हिंसात्वम्॥ (119)

अन्तरंगसंगेषु चतुर्दश आभ्यन्तर-परिग्रहेषु हिंसा प्राणिवधरूपा सिद्धा प्रत्यक्षीभूता। कस्मात्? हिंसा पर्यायात्वात् चतुर्दश मिथ्यात्वादयः परिग्रहाः। हिंसायाः पर्यायाः। नामान्तराणि वर्तन्ते। अतः प्रत्यक्षेण परिग्रहत्वं। पुनः बहिरंगेषु बाह्येषु परिग्रहेषु मूर्च्छैव ममत्व-परिणाम एवं हिंसात्वं प्रयातु। हिंसाभावं गच्छतु। एतदेव स्वरूपं दृष्टान्तेन दृढयन्नाह।

**व्याख्या-भावानुवाद-**अंतरंग चौदह प्रकार परिग्रह से प्राणी वध रूप हिंसा सिद्ध ही है, प्रत्यक्षीभूत होने से। क्योंकि मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकार के परिग्रह हिंसा का पर्याय होने से अर्थात् मिथ्यात्व आदि हिंसा का नामान्तर ही है। इसलिए ये प्रत्यक्ष से परिग्रह हैं। पुनः बाह्य परिग्रह में ममत्व परिणाम ही हिंसा के लिए कारण है। इसे ही दृष्टांत के द्वारा अगले श्लोक नं. 120 में दृढ़ कर रहे हैं।

## मूर्च्छा विशेष में हिंसा विशेष

एवं न विशेषः स्यादुन्दर-रिपु-हरिण-शावकादीनाम्।

नैवं भवति विशेषः तेषां मूर्च्छा विशेषेण॥ (120)

एवं चेत् बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहयोः विशेषः भेदः न स्यात्। तदा उंदररिपवः मार्जारश्चहरिणशावकाः मृगापुत्राः ते आदिः येषां तेषां विशेषः नैवं भवति। परं तेषां मार्जार-मृग-बालादीनां मूर्च्छा विशेषेण मूर्च्छा ममत्व परिणाम-लक्षणा तस्याः विशेषः तेन हिंसायाः विशेषो भवति। एतदेव स्पष्टयति।

If this be so, there would be no difference between a cat and a young deer. No it is not so, there is a difference as to the degree of attachment.

**व्याख्या-भावानुवाद-**यदि ऐसा है तब बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रह में विशेष भेद नहीं रहेगा। तब चूहे को खाने वाली बिल्ली और घास को खाने वाला हरिण के बच्चे में कोई विशेषता नहीं होगी। परन्तु ऐसा नहीं है। बिल्ली जो चूहे को पकड़कर खाती है तब उसकी मूर्च्छा में तथा मृग जब घास खाता है तब उसकी मूर्च्छा में विशेषता रहती है। इसलिये दोनों की हिंसा में तीव्रता तथा मंदता रूपी विशेषता आ

जाती है। इसी विषय को आचार्यश्री श्लोक नं. 121 में स्पष्ट कर रहे हैं।

### मंद एवं तीव्र मूर्च्छा के कार्य

हरित-तृणांकुर-चरिणि मंदा मृग शावके भवति मूर्च्छा।

उन्तर निकरोन्माथिनि, माजरि सैव जायते तीव्रा।। (121)

Attachment is weak in the young deer who lives on green blades of grass it is strong in the cat which destroys a host of mice.

**व्याख्या-भावानुवाद-**मृगशावक में मूर्च्छा परिणाम मंद होता है। मार्जार में वही मूर्च्छा परिणाम तीव्र होता है। क्योंकि हरिण तो हरित तृण को खाता है इसलिये उसमें मूर्च्छा भाव कम होता है। चूहों के समूह को नष्ट करने वाली बिल्ली में मूर्च्छा भाव तीव्र होता है इसलिये मूर्च्छा की विशेषता से हिंसा में भी विशेषता हो जाती है। बिल्ली की मूर्च्छा अतीव दुष्टतर होती है। मृगशावक में मूर्च्छा भाव व मंदतर होता है।

### कार्य-कारण सिद्धांत

निर्बाधं संसिद्धयेत्, कार्य विशेषो हि कारण-विशेषात्।

औधस्य खंडयोरिव, माधुर्यं प्रीतिभेद इव।। (122)

हि इति निश्चितं कारणस्य विशेषस्तस्मात् कारणविशेषात् मूर्च्छाविशेषात् कार्यविशेषः परिग्रहलक्षणो निर्बाधं यैः बाधारहितं यथास्यात् तथा संसिद्धयेत्। कयोः इव दृष्टान्तेन दृढयति। ऊधसि भवं-औधस्य च खंडा च औधस्य खंडे तयोः यथा माधुर्यं औधस्य खंडयोः दुग्धे अथ खंडाया प्रीतिभेद इव भिन्नं भिन्नं वर्तते तथैव।

The effect is certainly influenced by the cause, like the difference in desire for sweetness in milk or suger.

**अन्वयार्थ-**(कारणविशेषात्) कारण विशेष से (कार्यविशेषः) कार्यविशेष (हि) निश्चय से (निर्बाधं संसिद्धयेत्) निर्बाध रीति से सिद्ध होता है (इव) जैसे (औधस्यखंडयोः माधुर्यं प्रीतिभेद एव) औधस् नाम दूध वाले पशुओं के थनों के ऊपर दूध से भरे हुए भाग (ऐनरी) का है उस भाग में दूध पैदा होता है इसलिये औधस्य नाम का दूध है। दूध और खंड दोनों की मधुरता में प्रीति का जिस प्रकार भेद देखा जाता है।

**व्याख्या-भावानुवाद-**निश्चय से मूर्च्छा रूपी कारण विशेष से परिग्रह रूपी

कार्य विशेष होता है। यह कार्यकारण संबंध बाधा रहित संसिद्ध है। इसको दृष्टांत के द्वारा दृढ़ करते हैं। जिस प्रकार दूध और खांड दोनों की मधुरता में भेद पाया जाता है। इस विषय को स्वयं आचार्यश्री श्लोक नं. 123 में स्पष्ट कर रहे हैं।

### हिंसा अधिक से परिग्रह अधिक

माधुर्य-प्रीतिः किल दुग्धे, मदैव मंद माधुर्ये।

सैवोत्कट-माधुर्ये, खंडे व्यपदिश्यते तीव्रा।। (123)

In the case of one who likes milk, which is moderately sweet, the desire for sweetness, is feeble. That desire is said to be intense in the case of one who likes suger, which is extremely sweet.

**व्याख्या-भावानुवाद-**निश्चय से दुग्ध की मधुरता में जो प्रीति है वह मंद है क्योंकि दूध की मधुरता मंद है। परन्तु खांड की मधुरता में जो प्रीति होती है वह तीव्र होती है अर्थात् दूध एवं खांड में मधुरता होने पर भी दोनों की मधुरता में अंतर है। दूध की मधुरता कम है और खांड की मधुरता अधिक है।

**समीक्षा-**दूध एवं खांड में जिस प्रकार मधुरता में अंतर होता है उसी प्रकार जिसमें तीव्र मूर्च्छा परिणाम होता है वह अधिक परिग्रहवान है और जिसमें मंद मूर्च्छा होती है वह कम परिग्रहवान है। जिस प्रकार बिल्ली चूहों को मारकर खाती है और हरिण का शिशु हरी घास को खाता है। उन दोनों में परिणाम अलग-अलग है। तीव्र संक्लेश परिणाम से युक्त होने के कारण बिल्ली तो अधिक हिंसक है परन्तु कम संक्लेश परिणाम होने के कारण मृगशावक कम हिंसक है।

### सम्यक्त्व के घातक चोर

तत्त्वार्थाश्रद्धाने, निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।

सम्यग्दर्शन-चौराः प्रथम कषायाश्च चत्वारः।। (124)

मूर्च्छाकारणं मिथ्यात्वं। अतः तत्त्वार्थाश्रद्धाने मिथ्यात्वं प्रथमं एवं निर्युक्तं मिथ्यात्वोदयात्। अयमात्मा तत्त्वार्थादि श्रद्धाने नैव करोति संशयविपर्ययाऽनध्य-वसाये मिथ्यात्वं जायते। मिथ्यात्वादेव परिग्रहादि मूर्च्छैव पुनः सम्यग्दर्शन-चौराः चत्वारः प्रथमकषायाः अपरं सम्यग्दर्शनस्य तत्त्वार्थ श्रद्धानरूपस्य चौराः तस्कराः चत्वारः चतुः प्रमिताः प्रथमकषायाः प्रथमाश्च ते कषाया अनंतानुबंधि-क्रोधमानमायालोभश्च वर्तन्ते। अनंतानुबंधि कषाय चतुष्कोदयात् सम्यग्दर्शनं



नाऽऽयातीति भावार्थः। अतः सम्यग्दर्शनार्थं प्रथमं मिथ्यात्वपूर्वकं अनंतानुबंधि-  
कषाय चतुष्कं त्याज्यम्।

At first for acquiring belief in Tattvarthas, the principles, as they are, wrong belief and the four passions of the first degree which prevent Right belief, should be got rid of.

**व्याख्या- भावानुवाद-**मूर्च्छा के लिए कारण मिथ्यात्व है। अतः तत्त्वार्थ श्रद्धान में मिथ्यात्व को पहले नियत किया गया है। मिथ्यात्व के कारण यह जीव तत्त्वार्थ आदि में श्रद्धान नहीं करता है। मिथ्यात्व से संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय उत्पन्न होते हैं। मिथ्यात्व से ही परिग्रह आदि में मूर्च्छा होती ही है। पुनः अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ भी सम्यग्दर्शन को नष्ट करते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन के लिए सर्वप्रथम मिथ्यात्वपूर्वक अनुतानुबंधी कषाय चारों को त्याग करना चाहिए।

### देश-चारित्र के हिंसक

प्रविहाय च द्वितीयान्, देशचारित्रस्य सन्मुखायाताः।

निपतन्ते हि कषायाः, देशचारित्रं निरुद्धन्ति।। (125)

अनन्तानुबंधि-चतुष्कोदयात् चतुर्थ गुणस्थानकं नायाति। यदा अनन्तानुबंधि चतुष्कस्य मिथ्यात्वत्रयस्य क्षयात् उपशमाद्वाक्षयोपशमाद्वा सम्यक्त्वं जायते परन्तु विरताऽविरतिरूपं न प्राप्नोति एतदेव स्पष्टयन्नाह। देशचारित्रस्य देशविरतेः सन्मुखायाताः सन्मुखं प्राप्तात् द्वितीयान् अप्रत्याख्यान-कषाय-चतुष्कान् प्रविहाय त्यक्त्वा देशचारित्रं प्राप्नोति। हि निश्चितं ते कषायाः अप्रत्याख्यानात्मकाः देशचारित्रं संयतासंयत पंचमगुणस्थानं निरुद्धन्ति। अतो देशचारित्र सिद्धयर्थं अप्रत्याख्यान-चतुष्कं त्याज्यम्।

Again having suppressed the passions of second (degree) which certainly obstruct partial conduct, laymen approach partial vows.

**व्याख्या- भावानुवाद-**अनंतानुबंधी चारों कषाय के उदय से चतुर्थ गुणस्थान नहीं होता है। जब अनंतानुबंधी चतुष्क तथा मिथ्यात्व त्रय का क्षय उपशम, या क्षयोपशम होता है तब सम्यक्त्व होता है परन्तु विरता विरति रूप को प्राप्त नहीं करता है। जब द्वितीय अप्रत्याख्यान कषाय चतुष्क को त्याग करता है तब देश चारित्र को प्राप्त करता है। निश्चय से वह अप्रत्याख्यानात्मक कषाय देश चारित्र रूप संयतासंयत

रूप पंचम गुणस्थान को निरोध करते हैं। इसलिये देश चारित्र की सिद्धि के लिए अप्रत्याख्यान कषाय चतुष्क को त्याग करना चाहिए।

### परिग्रह त्याग के उपाय

निज शक्त्या-शोषाणां, सर्वेषामन्तरंग-संगानाम्।

कर्त्तव्यः परिहारो-मार्दव शौचादि भावनया।। (126)

निःशल्यो व्रती इति वचनात्। सर्वेषां अन्तरंग-संगानां चतुर्दश-परिग्रहाणां वाऽऽशोषाणां उद्धरितानां अपि अन्तरंग-संगानां आभ्यन्तर-परिग्रहाणां परिहारः त्यागः निजशक्त्या शक्त्यानुसारेण कर्त्तव्यः। कया-मार्दव-शौचादि भावनयौ। ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः। अष्टावाश्रित्यमानत्वं, समयमाहुर्गतस्मया।। इति श्लोक कथिताऽष्ट-गर्व-रहितत्वं मान त्यागत्वं मार्दव उच्यते। तृष्णा-परित्यागः शौचः उच्यते। मार्दव-भावनया-पुनः शौच भावनया अन्तरंग-परिग्रह त्यागः कार्यः।

All remaining internal attachments should be suppressed, with self-exertion through humility, contentment and such meditations.

**व्याख्या-भावानुवाद-**जो निःशल्य होता है वह व्रती होता है। संपूर्ण चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रहों को या अशेष परिग्रहों को निज शक्ति के अनुसार त्याग करना चाहिए। किस उपाय से अंतरंग परिग्रह को त्याग करना चाहिए उसको बताते हैं। मृदुता, पवित्रतादि भावना से अंतरंग कषायों को त्याग करना चाहिए। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, रिद्धि, तप, शरीर आदि के कारण जो अहंकार होता है उसको त्याग करने पर मार्दव गुण अर्थात् नम्रता गुण होता है। तृष्णा के परित्याग से शौच तथा पवित्रता आती है। इस प्रकार अंतरंग परिग्रह के विपरीत आत्मा के शुद्ध भावों के द्वारा अंतरंग परिग्रहों को त्याग करना चाहिए।

**समीक्षा-**इस श्लोक में आचार्यश्री ने अंतरंग परिग्रह त्याग करने का उपाय बताया है। अंतरंग परिग्रह आत्मा के वैभाविक भाव हैं। उन वैभाविक भावों को दूर करने के लिए आत्मा के स्वाभाविक भावों का आश्रय लेना चाहिए। जिस प्रकार अंधकार को दूर करने के लिए प्रकाश का आवलंबन लेना चाहिए। मिथ्यात्व को त्याग करने के लिए सम्यक्त्व, असंयम को त्याग करने के लिए संयम, क्रोध को त्याग करने के लिए क्षमा, मान को त्याग करने के लिए मृदुता, माया को त्याग करने के लिए

सरलता, लोभ को त्याग करने के लिए पवित्रता, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा आदि को त्याग करने के लिए ममता तथा वेद को त्याग करने के लिए ब्रह्मचर्य का आवलंबन लेना चाहिए।

### बाह्य परिग्रह के त्याग का कारण

बहिरंगादपि-संगा-द्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।

परिवर्जयेदशेषं, तमचित्तं वा सचित्तं वा।। (127)

यस्मात् कारणात् बहिरंगात् बाह्यात् अपि संग्गात् परिग्रहात् अनुचितः अयोग्यः असंयमो भवति अतः कारणात् तं अशेषं समस्तं अचित्तं अचेतन-परिग्रहं वा सचित्तं सचेतन-परिग्रहं परिवर्जयेत्। सचेतनं सर्वं अपि परिग्रह-समूहा त्रिशुद्ध्या त्याज्यमेवेति भावार्थः।

All external attachments, whether living or nonliving should be avoided; because improper non-control is brought about by external possession even.

व्याख्या-भावानुवाद-जिसके कारण से बहिरंग परिग्रह से भी अनुचित असंयम होता है। उसके लिए वे समस्त अचित्त, सचित्त परिग्रह को त्याग करना चाहिए। सचेतन, अचेतन रूपी समस्त परिग्रहों को मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक त्याग करना चाहिए।

### शक्त्यानुसार परिग्रह का त्याग

योऽपि न शक्यस्त्यक्तुं धन धान्य-मनुष्य-वास्तु-वित्तादि।

सोऽपि तनू करणीयः, निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्।। (128)

And if one is unable to wholly renounce cattle, corn servants, buildings, wealth etc., he also, should at least limit them; because renunciation is the Right principle.

व्याख्या-भावानुवाद-जो पुरुष धन-धान्य, वास्तु, वित्त, मनुष्य आदि परिग्रहों को त्याग करने के लिए समर्थ नहीं है तथापि उसके द्वारा परिग्रहों को अल्प करना चाहिए क्योंकि शुद्ध आत्म तत्त्व बाह्य तत्त्वों से निवृत्ति स्वरूप है, भिन्न स्वरूप है। अर्थात् समस्त बाह्य द्रव्य आत्मा से भिन्न होने से शक्ति के अनुसार द्रव्यों को अधिक से अधिक त्याग करना चाहिए।

द्रव्य हिंसा से बंध भजनीय किन्तु परिग्रह से बंध अवश्य है

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध कायचेट्टम्हि।

बंधो धुवमुबधीदो इदि समणा छट्टिया सव्वं।। (219) प्र.सार

There is or there is no bondage, when a being dies in the course of physical activities, bondage, is certain from attachment to paraphernalia, therefore ascetics give up everything.

आगे आचार्य कहते हैं कि बाहरी जीव का घात होने पर बंध होता है तथा नहीं भी होता है, किन्तु परिग्रह के होते हुए तो नियम से बंध होता है।

(कायचेट्टम्हि) शरीर से हलन-चलन आदि क्रिया के होते हुए (जीवमदे) किसी जंतु के मर जाने पर (हि) निश्चय से (बंधो हवदि) कर्मबंध होता है (वा ण हवदि) अथवा नहीं होता है (अध) परन्तु (उवधीदो) परिग्रह के निमित्त से (बंधो धुवं) बंध निश्चय से होता ही है (इदि) इसीलिये (समणा) साधुओं ने (सव्व) सर्व परिग्रह को (छट्टिया) छोड़ दिया।

साधुओं ने व महाश्रमण सर्वज्ञों ने पहले दीक्षाकाल में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावमई अपने आत्मा को ही परिग्रह मानकर शेष सर्व बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह को छोड़ दिया ऐसा जानकर के अन्य साधुओं को भी अपने परमात्म स्वभाव को ही अपना परिग्रह स्वीकार करके शेष सर्व ही परिग्रह को मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदन से त्याग देना चाहिए। यहाँ यह कहा गया है कि शुद्ध चैतन्यरूप निश्चय प्राण का घात जब राग-द्वेष आदि परिणामरूप निश्चयहिंसा से किया जाता है तब नियम से बंध होता है। पर जीव के घात हो जाने पर बंध हो वा न भी हो, नियम नहीं है, किन्तु परद्रव्य में ममतारूप मूर्च्छा-परिग्रह से तो नियम से बंध होता ही है।

**समीक्षा**—इस गाथा में आचार्य कुंदकुंद भगवन्त ने एक महान् आध्यात्मिक रहस्य का उद्घाटन किया है। शांत, स्वाभाविक, शुद्ध स्वभाव का हनन जिन राग, द्वेष, मोह, ममत्व, इच्छादि भावों से होता है उसे ही निश्चय से हिंसा कहते हैं अर्थात् वैभाविक भाव ही हिंसा है एवं स्वभाव ही 'अहिंसा' है। वैभाविक भावों से रहित जीव की काय की क्रिया से यदि कोई जीव मर जाता है तथापि उसे हिंसा का दोष नहीं लगेगा। इसलिये द्रव्य-हिंसक, भाव अहिंसक हो सकता है, परन्तु जो बाह्य परिग्रहधारी है वह अवश्य अंतरंग परिग्रहधारी है। क्योंकि बिना अंतरंग के मोह, ममत्व, तृष्णा, लोभ के बाह्य परिग्रह को नहीं स्वीकार कर सकता है और मोह, ममत्वादि ही यथार्थ से हिंसा है। इसलिये परिग्रहधारी अवश्य हिंसक है और उसे अवश्य कर्मबंध होता

है। परन्तु द्रव्य-हिंसक कथंचित् अहिंसक होने से उसे कर्मबंध नहीं होता है। इस दृष्टि से हिंसक से भी महाहिंसक परिग्रहधारी है। इसलिये अमृतचंद्र सूरी ने इस गाथा की टीका में कहा है कि-परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता है, ऐसा जो परिग्रह का सर्वथा अशुद्धोपयोग के साथ अविनाभावपना है उससे प्रसिद्ध होने वाले निश्चय अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह से तो बंध निश्चित है। इसलिये अभी तक जितने भगवान् बने पहले वे परिग्रह को त्यागकर के ही अहिंसक बने। समंतभद्र स्वामी ने कहा भी है-

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं।  
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।।  
ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं।

भवानेवात्याक्षीत्र च विकृतवेषोपधिरतः।। (4) (पृ. 132 स्वयंभू स्रोत)

हे भगवन्! प्राणियों की अहिंसा जगत् में परम ब्रह्म रूप से प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है परन्तु वह अहिंसा उस आश्रय विधि में नहीं है जिसमें की थोड़ा भी आरंभ होता है इसलिये उस अहिंसा धर्म की सिद्धि के लिए परम दयालु होकर आपने ही बाह्य और अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़ा है और यथाजात लिंग के विरोधी वेष तथा परिग्रह से आसक्त नहीं हुए है।

अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रह पर स्वरूप है। जहाँ पर संयोग है, वहाँ बंध है जहाँ बंध है वहाँ दुःख ही दुःख है। इसलिये मुमुक्षु परिग्रह को दुष्टग्रह, ग्राह (मगरमच्छ) से भी अधिक दुःखदायी मानकर त्याग कर देते हैं पूज्यपाद स्वामी ने कहा भी है-

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं।

अत एव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।। (45) (पृ. 209 इष्टोपदेश)

देहादि पर पदार्थ तो पर ही है उन्हें अपना मानने से दुःख होता है किन्तु आत्मा, आत्मा ही है-आत्म पदार्थ अपना है। वह अपना ही रहेगा वह कदाचित् भी देहादिरूप नहीं हो सकता-उसे अपनाने से सुख प्राप्त होता है। इसीलिये तीर्थकरादि महापुरुषों ने आत्मा के लिए ही उद्योग किया है-विविध घोर तपश्चरण के अनुष्ठान द्वारा आत्म तत्त्व की प्राप्ति की है।

अविद्वान् पुद्गल द्रव्यं योऽभिनन्दति तस्य तत्।

न जातु जंतोः सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति।। (46)

अज्ञानी जीव पुद्गल द्रव्य को अपना मानता है अतएव पुद्गल द्रव्य चारों गतियों में आत्मा का संबंध नहीं छोड़ता-वह बराबर साथ बना रहता है।

आचार्य अमृतचंद्र सूरी ने परिग्रह एवं हिंसा को अभिन्न सिद्ध किया है। क्योंकि हिंसा पाप प्रमाद से होता है तथा परिग्रह पाप भी प्रमाद से होता है। अतः दोनों के कारण एक होने से हिंसा एवं परिग्रह में कोई अंतर नहीं है। यथा-

**या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषेः।**

**मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्व परिणामः॥ (111 पु.सि.पृ. 150)**

जो यह मूर्च्छा है यह ही परिग्रह जाननी चाहिए तथा मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ ममता रूप परिणाम मूर्च्छा कहलाता है।

**मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।**

**सग्रन्थो मूर्च्छवान् विनापि किल शेष संगेभ्यः॥ (112)**

परिग्रह का मूर्च्छा लक्षण करने से दोनों प्रकार-बहिरंग और अंतरंग परिग्रह की व्याप्ति अच्छी तरह घट जाती है बाकी सब परिग्रहों से रहित भी निश्चय करके मूर्च्छा वाला परिग्रह वाला है।

**यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरंग।**

**भवति नितरां यतोसौ धत्ते मूर्च्छा निमित्तत्वं॥ (113)**

यदि इस प्रकार है अर्थात् परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा ही किया जाता है उस अवस्था में निश्चय से कोई भी बहिरंग परिग्रह, परिग्रह नहीं ठहरता है इस आशंका के उत्तर में आचार्य उत्तर देते हैं कि बाह्य परिग्रह भी परिग्रह कहलाता है क्योंकि यह बाह्य परिग्रह सदा मूर्च्छा का निमित्त कारण होने से अर्थात् 'यह मेरा है' ऐसा ममत्व परिणाम बाह्य परिग्रह में होता है इसलिये वह भी मूर्च्छा के निमित्तपने को धारण करता है।

**एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद् भवेन्नैवम्।**

**यस्मादकषायाणां कर्म ग्रहणे न मूर्च्छास्ति॥ (114)**

इस प्रकार परिग्रह की अति व्याप्ति होगी यदि ऐसा है तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि कषाय रहित वीतराग मुनियों के कर्म के ग्रहण करने में मूर्च्छा नहीं है।

**अतिसंक्षेपाद् द्विविधः सः भवेदाभ्यंतरश्च बाह्यश्च।**

**प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु॥ (115)**

वह परिग्रह अतिसंक्षेप से दो प्रकार का है आभ्यंतर परिग्रह और बाह्य परिग्रह। पहला आभ्यंतर परिग्रह चौदह प्रकार का है दूसरा बाह्य परिग्रह दो प्रकार का है।

**मिथ्यात्व वेद रागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।**

**चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तराः ग्रन्थाः॥ (116)**

मिथ्यात्व, पुंवेद स्त्रीवेद, नपुंसक वेद, उसी प्रकार हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, ये छह दोष चार कषाय ये चौदह अभ्यंतर परिग्रह कहलाते हैं।

**अथ निश्चित सचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।**

**नैषः कदापि संगः सर्वोप्यति वर्तते हिंसां॥ (117)**

इसके अनन्तर बाह्य परिग्रह के भेद बतलाते हैं बाह्य परिग्रह के अचेतन और सचेतन दो भेद हैं। यह दोनों प्रकार का सभी परिग्रह कभी भी हिंसा का अतिवर्तन नहीं करता है।

जिनेन्द्र भगवान् के उपदिष्ट आगम को जानने वाले श्री परम गुरु आचार्य महाराज सचित्त-अचित्त इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का छोड़ना अहिंसा है ऐसा सूचित करते हैं और दोनों प्रकार के परिग्रहों का ग्रहण करना हिंसा है ऐसा सूचित करते हैं।

अंतरंग परिग्रहों में हिंसा के पर्याय होने से हिंसा सिद्ध है बहिरंग परिग्रहों में तो नियम से मूर्च्छा ही हिंसापने को सिद्ध करती है।

इस प्रकार अर्थात् यदि बहिरंग परिग्रहों में मूर्च्छा का उत्पन्न होना ही हिंसा है तो बिल्ली और हरिण के बच्चे आदि के विषय में कुछ विशेष नहीं होगा? उत्तर में कहते हैं कि ऐसा नहीं है उनके मूर्च्छा विशेष से विशेष है।

हरे तृणों के अंकुरों को चरने वाले मृग के बच्चे में मंद मूर्च्छा होती है, मूषों के समूहों को नष्ट करने वाली बिल्ली में वही मूर्च्छा तीव्र होती है।

कारण विशेष से कार्य विशेष निश्चय से निर्बाध रीति से सिद्ध होता है जैसे दूध और खांड दोनों की मधुरता में प्रीति का जिस प्रकार भेद देखा जाता है।

**माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मंदैव मंदमाधुर्ये।**

**सैवौत्कटमाधुर्ये खंडे व्यपदिश्यते तीव्रा॥ (123)**

निश्चय करके मधुरता में प्रीति मंद मधुरता रखने वाले दूध में मंद ही है वही मधुरता में प्रीति अधिक मधुरता रखने वाली खांड में तीव्र कही जाती है।

आचार्य कुंदकुंद देव ने तो अनासक्ति/वीतरागता/निर्ममत्व को आगमज्ञान से भी श्रेष्ठ बताया है। वे कहते हैं कि परमाणु प्रमाण परद्रव्य के प्रति जो राग करता है वह सर्वागमज्ञ होकर भी आत्मा को नहीं जानता है। यथा-

**पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो।**

**ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को॥ (207)**

(समयसार पृ. 202)

सम्यक्दृष्टि विरागी जीव ऐसा जानता है कि राग नाम का पौद्गलिक कर्म है उसके विपाक का उदय ही मेरे अनुभव में प्रतीति रूप से आया करता है सो यह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो निश्चय से एक ज्ञायक स्वभाव हूँ इसमें संदेह नहीं।

यदि सम्यक्दृष्टि से कोई यह पूछता है कि नाना प्रकार के कर्मोदय के फल का विपाक रूप विभाव परिणाम वह तेरा स्वभाव क्यों नहीं है तो वह कहता है कि कर्म स्वयं परद्रव्य है जिनके द्वारा उत्पन्न हुए क्रोधादिक भाव औपाधिक हैं, मेरे स्वभाव कैसे हो सकते हैं। देह तो स्पष्ट ही जड़ स्वरूप है मुझसे भिन्न है।

**एवं सम्मादिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणग सहावं।**

**उदयं कम्मविवागं मुअदि तच्चं वियाणंतो॥ (209)**

इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता हुआ जो जीव अपने आप को ज्ञायक स्वभाव मानता है और कर्म के उदय को कर्म का विपाक जानकर उसे छोड़ता है वही सम्यक्दृष्टि होता है।

**उदय विवागो विविहो कम्माणं वणिणदो जिणवरेहिं।**

**ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को॥ (210)**

योगी जानते हैं कि श्री जिन भगवान् ने कर्मों के रस का उदय अनेक प्रकार का बतलाया है वह सब मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक स्वभाव वाला हूँ।

**परमाणु मित्तिंयं पि हु य रागादीणं तु विज्जदे जस्स।**

**ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागम धरोवि॥ (211)**

**अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चा वि सो अयाणंतो।**

**कह होदि सम्मदिट्ठी जीवा जीवे अयाणंतो॥ (212)**

जिसके रागादिकों का लेशमात्र भी विद्यमान है तो वह जीव संपूर्ण द्वादशांग शास्त्र का पारंगत होकर भी आत्मा को नहीं जान सकता और जब आत्मा को नहीं



जान सकता तो वह अन्य को भी नहीं जान सकता एवं जो आत्मा और पर को नहीं जान सकता वह जीव और अजीव दोनों को भी नहीं जानने वाला सम्यक्दृष्टि कैसे हो सकता है? कभी नहीं हो सकता।

**जो वेददि वेदिज्जदि समये समये विणस्सदे उभयं।**

**तं जाणगो दु णाणी उभयमवि ण कंखदि कदावि।। (213)**

जो रागपूर्वक जानने वाला भाव है और जो उसके द्वारा जाना जाता है ये दोनों ही समय-समय पर विनष्ट हो जाते हैं। इन दोनों में से जो किसी को भी अंगीकार नहीं करता है किन्तु केवल ज्ञायक मात्र होकर रहता है वह ज्ञानी होता है।

**बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।**

**संसारदेह विसएसु णेव उपज्जदे रागो।। (214)**

बंधु व उपभोग के निमित्तभूत ऐसे दो प्रकार के अध्यवसान के उदय होते हैं जो कि संसार और देह विषयक होते हैं उनमें ज्ञानी जीव के कभी राग पैदा नहीं होता।

**मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।**

**णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झं।। (215)**

यदि यह शरीरादिक परद्रव्य भी मेरा परिग्रह हो जाये तो फिर मैं भी अजीवपने को प्राप्त हो जाऊँ। किन्तु मैं तो ज्ञाता ही हूँ इसलिये यह सब कुछ मेरा परिग्रह नहीं है।

**आदमिह दव्वभावे अथिरे मोत्तूण गिण्ह तव णियदं।**

**थिरमेग मिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण।। (216)**

आत्मा में जो द्रव्य और भावकर्म है उनको अस्थिर जान करके छोड़ दे और अपने ही निश्चित, स्थिर, एक, स्वभाव से अनुभव ने योग्य इस प्रत्यक्षीभूत आत्म पदार्थ को ग्रहण कर।

**को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं।**

**अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो।। (217)**

कौन ज्ञानी है जो परद्रव्य को भी 'यह मेरा द्रव्य है' इस प्रकार कहता रहे, क्योंकि वह तो नियम से अपने आपको ही अपना परिग्रह (उपादेय) जानता रहता है।

परिग्रह बहुत बड़ी हिंसा एवं बहुत बड़ा पाप होने पर भी आज स्वयं को जैन धर्मावलम्बी मानने वाले आनुशांगिक द्रव्य हिंसा को बहुत बड़ा पाप मानते हैं परन्तु परिग्रह को हिंसा या पाप नहीं मानते हैं, वे परिग्रह को तो पुण्य मानते हैं, शान,

स्वाभिमान की वस्तु मानते हैं, जो अन्यायपूर्ण प्रणाली से यथा-मिलावट, शोषण, ठगबाजी, धोखाधड़ी आदि से भी धन कमाकर धन्नासेठ बन जाते हैं, उसे लोग पुण्यशाली धार्मिक मानते हैं और उसके अनैतिक पूर्ण, अन्याय पूर्ण, अधार्मिक व्यवहार को भी भय के कारण सहन करते हैं परन्तु प्रतिवाद नहीं करते, निराकरण नहीं करते हैं। कुछ व्यक्ति दानादि करके अपना नाम कमाने के लिए, अहंकार की पुष्टि के लिए अन्याय से भी धन कमाते हैं और इस अन्याय पूर्ण धन से यदकिंचित् दान देकर स्वयं को धार्मिक एवं दानी मानते हैं। इतना ही नहीं, इस दान के पीछे सेलटैक्स चोरी, इन्कम टैक्स चोरी तथा समाज के ऊपर प्रभाव डालना, अपना वर्चस्व कायम करना आदि कुभावना भी निहित रहती है। हमारे आचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि दान देने के लिए भी धन कमाना मानो स्नान करके शरीर को स्वच्छ करने के बहाने शरीर को मल से लिप्त करना है। यथा-

**त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।**

**स्वशरीरं स पट्टेन स्नास्यामीति विलिम्पति॥ (16)** (पृ. 18 इष्टोपदेश)

जो निर्धनी पुरुष, पुण्य प्राप्ति होगी ऐसा विचार कर दान करने के लिए धन कमाता या जोड़ता है, वह स्नान कर लूँगा ऐसे ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ से लपेटता है।

जो निर्धनी ऐसा खल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिये पात्रदानादि करने के लिए धन कमाना चाहिए, नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिए कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले, तो वह बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुआ व्यक्ति को भी समझना चाहिए। संस्कृत टीका में यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको बिना यत्न किये हुए धन की प्राप्ति हो जाय तो वह उस धन से कल्याण के लिए पात्रदानादिक करे तो करे। फिर किसी को भी धन का उपार्जन, शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं सकता जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा भी है-

“शुद्धैर्धनैविवर्धन्ते, सतामपि न संपदः।

न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥” (45)

“सत्पुरुषों की संपत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखों, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षा में गंदले पानी से भी भरी रहती है।”

कोई प्रश्न कर सकता है कि फिर श्रावक को दानादि में भी धन खर्च नहीं करना चाहिए यह भाव निकलता है? परन्तु रहस्य यह है कि परिग्रह पाप है और परिग्रहधारी हिंसक है इसलिये समग्रता से संपूर्ण परिग्रह त्याग करना चाहिए। यदि संपूर्ण त्याग नहीं कर पाता है तो परिग्रह अणुव्रत को धारण करे। इस अणुव्रत में भी जो पाप संचय होता है इसके साथ अन्य-अन्य गृहस्थ संबंधी पाप को कम करने के लिए निर्लोभता के, त्याग को बढ़ाने के लिए न्याय से कमाये धन से यथाशक्ति ज्ञान, औषध आहारदि दान दे। यदि परिग्रहधारी होकर भी दानादि नहीं करता है तो और भी महान् पापी है, लोभी है। दान में हिंसा स्वरूप लोभ को निरसन किया जाता है और जो दान नहीं देता है वह लोभ रूपी हिंसा को करता है। अमृतचंद्र सूरि ने उपर्युक्त विषय को स्पष्ट रूप से निम्न प्रकार प्रतिपादन किया है-

**हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।**

**तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्॥ (172) पृ. 195 (पु.सिद्ध.)**

दान देना अहिंसा है, अर्थात् हिंसा को दूर हटाना है। कारण कि दान देने से लोभ कषाय का त्याग होता है, बिना लोभ कषाय का त्याग किये दान देने के परिणाम ही नहीं होते, इसलिए दानी के लोभ कषाय छूट जाता है। लोभ कषाय हिंसा का ही दूसरा नाम है, कारण कि कषाय मात्र ही आत्मा के परिणामों की हिंसा करने वाले हैं इसलिए लोभ कषाय ही आत्मा को मोहित एवं प्रमत्त बनाता है इसलिए वह भी हिंसा स्वरूप है। दान देने से उस लोभ कषाय रूप हिंसा का नाश होता है इसलिए अतिथि को दान देने से अहिंसा धर्म की सिद्धि होती है अथवा हिंसा भाव का परित्याग होता है।

**गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्या परानपीडयते।**

**वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति॥ (173) पृ. 196**

जिनकी आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चरित्र गुण प्रकट हो रहे

हैं, जो किसी जीव को पीड़ा नहीं पहुँचाने का भाव रखते हैं तथा शरीर से भी अच्छी तरह निरीक्षण करने के कारण जो दूसरे को पीड़ा नहीं होने देते, जिस प्रकार भौरा (भ्रमर) प्रत्येक पुष्प पर बैठता है परन्तु उसे विनष्ट नहीं होने देता, पुष्प को किसी प्रकार का आघात पहुँचाये बिना ही उसका रसास्वाद लेता है। उसी प्रकार जो भ्रामरी वृत्ति से कभी किसी के यहाँ और कभी किसी के यहाँ आहार लेने जाते हैं किसी एक स्थान में ही मोहित वृत्ति नहीं रखते और न किसी को किसी प्रकार का कष्ट ही देते हैं जो सदा गृहवास छोड़कर जंगल में निवास करते हैं ऐसे साधुओं का घर आना बड़े ही पुण्योदय से होता है, सहसा नहीं होता फिर भी घर आये हुए साधुओं को जो गृहस्थ दान नहीं देता है वह कितना लोभी है यह बात छिपी नहीं रह सकती अर्थात् जिसके परिणाम घर पधारे हुए रत्नत्रयधारी परम शांत वृत्ति वाले वीतरागी मुनियों के लिए भी आहारदान करने के नहीं होते हैं महान् लोभी है ऐसा लोभी पुरुष कभी स्व-पर कल्याण नहीं कर सकता किन्तु अपनी आत्मा को ठगता है।

**कृतमात्मार्थं मुनये तदाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।**

**अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव॥ (174)**

जो पदार्थ अपने लिए तैयार किया जाये और फिर उसको स्वयं देने के परिणाम हो जाये तो उस समय निश्चय से लोभ मंद हो जाता है कारण यदि लोभ की तीव्रता होगी तो देने के परिणाम ही नहीं होंगे, उस समय गृहीता के गुणों में प्रेम भी अवश्य ही हो जाता है, क्योंकि अपना प्रयोजनी भूत पदार्थ दूसरों को प्रेम के वश होकर ही दिया जा सकता है अन्यथा नहीं और विषाद भी उस समय नष्ट हो ही जाता है उस पदार्थ के दान को जो अपने लिए खेदजनक समझेगा वह उसका दान ही क्यों करेगा। इस प्रकार अपने लिए तैयार किये हुए भोजन को जो गृहस्थ भावपूर्वक मुनि महाराज को देता है उसके उस समय अरति, विषाद और लोभ तीनों ही नष्ट हो जाते हैं और इन तीनों के नष्ट हो जाने से उस समय आत्मा के अहिंसामय भाव रहते हैं इसलिये दान को अहिंसा स्वरूप समझना चाहिए। समंतभद्र स्वामी ने भी दानादि का महत्व निम्न प्रकार से प्रतिपादन किया है-

**गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।**

**अतिथीनां प्रतिपूजा रूधिरमलं धावते वारि॥ (24) पृ. 204 (रत्न.श्रा.)**

जिन्होंने अंतरंग और बहिरंग से घर का त्याग कर दिया है तथा सब तिथियाँ

जिन्हें एक समान हैं, किसी खास तिथि से राग-द्वेष नहीं है ऐसे मुनियों के लिए जो दान दिया जाता है वह सावद्य व्यापार-सपाप कार्यों से संचित बहुत भारी कर्म को भी उसी तरह नष्ट कर देता है जिस तरह की जल, मलिन रूधिर को धो देता है-नष्ट कर देता है।

**उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।**

**भक्तेः सुन्दरूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु॥ (25)**

तपस्वियों को प्रणाम करने से उच्चगोत्र, दानादिक देने से भोग, पड़गाहने से पूजा, प्रभावना, भक्ति अर्थात् गुणानुराग से उत्पन्न श्रद्धा विशेष से सुन्दर रूप तथा “आप ज्ञान के सागर हैं” इत्यादि स्तुति करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

**क्षितिगतमिव वटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।**

**फलति छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्॥ (26)**

जिस प्रकार उत्तम भूमि में उचित समय में डाला हुआ छोटे से वट का बीज संसारी जीवों के बहुत भारी छाया के साथ बहुत से इष्ट फल को फलता (देता) है, उसी प्रकार उचित समय में सत्पात्र के लिए दिया हुआ थोड़ा भी दान संसारी प्राणियों के लिए अभिलषित सुंदर रूप तथा भोगोपभोग आदि अनेक प्रकार के फल को प्रदान करता है। दानपक्ष में ‘छाया विभवं’ का समान इस प्रकार होता है ‘छाया माहात्म्यं विभवः सम्पत् तौ विद्यते यस्मिन् इति फलस्य विशेषणं’ छाया का अर्थ माहात्म्य होता है और विभव का अर्थ संपत्ति होता है। छाया और माहात्म्य ये दोनों जिस फल में विद्यमान हैं उस फल को दान देता है। छाया का अर्थ अनातप-घाम का अभाव होता है और विभव का अर्थ प्राचुर्य-अधिकता लिया जाता है। ‘छाया-आतप निरोधिनी तस्या विभवः प्राचुर्यं यथाभवत्येवं’ इस प्रकार क्रिया विशेषण किया जाता है।

**आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।**

**वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन् चतुरस्रा॥ (27)**

भक्त पान आदि को आहार कहते हैं, बीमारी को दूर करने वाले पदार्थ को औषध कहते हैं, ज्ञानोपकरण आदि को उपकरण कहते हैं और वसतिका आदि को आवास कहते हैं। इन चारों वस्तुओं को देने से वैयावृत्य चार प्रकार का होता है ऐसा पंडित जन निरूपण करते हैं।

**अशुद्ध भाव से किया हुआ त्याग कर्मक्षय का कारण नहीं**

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी।

अविसुद्धस्स य चित्ते कहंणु कम्मक्खओ विहिदो।। (220) प्र.सार

If there is no renunciation (absolutely) free from (any) expectation, the monk cannot have the purification of mind; how can he effect the destruction of Karmas, when he is impure in mind?

अब कहते हैं कि जो भावों की शुद्धिपूर्वक बाहरी परिग्रह का त्याग किया जावे तो अभ्यंतर परिग्रह का ही त्याग किया गया।

(णिरवेक्खो) अपेक्षा रहित (चागो) त्याग (ण हि) यदि न होवे तो (भिक्खुस्स) साधु के (आसयविसोही ण हवदि) आशय या चित्त की विशुद्धि नहीं होवे। (य) तथा (अविसुद्ध चित्ते) अशुद्ध मन के होने पर (कहं णु) किस तरह (कम्मक्खओ) कर्मों का क्षय (विहियो) उचित हो अर्थात् न हो। यदि साधु सर्वथा ममता या इच्छा त्यागकर सर्व परिग्रह त्याग न करे किन्तु यह इच्छा रखे कि कुछ भी वस्त्र या पात्र आदि रख लेने चाहिए, तो अपेक्षा सहित परिणामों के होने पर उस साधु के चित्त की शुद्धि नहीं हो सकती है। तब जिस साधु का चित्त शुद्धात्मा की भावना रूप शुद्धि से रहित होगा उस साधु के कर्मों का क्षय होना किस तरह उचित होगा अर्थात् उसके कर्मों का नाश नहीं हो सकता है।

इस कथन से यह भाव प्रगट किया गया है कि जैसे बाहर का तुष रहते हुए चावल के भीतर की शुद्धि नहीं की जा सकती है। इसी तरह विद्यमान परिग्रह में या अविद्यमान परिग्रह में जो अभिलाषा है, उसके होते हुए निर्मल शुद्धात्मा के अनुभव को करने वाली चित्त की शुद्धि नहीं की जा सकती है। जब विशेष वैराग्य के होने पर सब परिग्रह का त्याग होगा तब भावों की शुद्धि अवश्य होगी ही परन्तु यदि प्रसिद्धि पूजा या लाभ के लिए त्याग किया जायेगा तो चित्त की शुद्धि नहीं होगी।

“वस्त्र पात्रादि परिग्रह भी त्यजनीय”

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थित्तिभणिदमिह सुत्ते।

जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो।।

वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं।

विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि।।

गेण्हइ विधुणई धोवइ सोसेइ जंद तु आवदे खित्ता।

## पतं व चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि।।

आगे इस ही परिग्रह के त्याग को दृढ़ करते हैं-

(जदि) यदि (इह सुते) किसी विशेष सूत्र में (चेलखंडं गेण्हदि) साधु वस्त्र के खंड को स्वीकार करता है (व भायणं अत्थिति भणिदम्) या उसके भिक्षा का पात्र होता है ऐसा कहा गया है तो (सो) वह पुरुष निरालंब परमात्मा के तत्त्व की भावना से शून्य होता हुआ (कहं) किस तरह (चत्तालंबो) बाहरी द्रव्य के आलंबन रहित (हवदि) हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता (वा अणारम्भो) अथवा किस तरह क्रिया रहित व आरंभ रहित निज आत्म तत्त्व की भावना से रहित होकर आरंभ से शून्य हो सकता है? अर्थात् आरंभ रहित होकर आरंभ सहित ही होता है। यदि वह (वत्थक्खंडं) वस्त्र के टुकड़े को, (दुद्धियभायणं) दूध के लिए पात्र को (अण्णं च गेण्हदि) तथा अन्य किसी कंबल या मुलायम शय्या आदि को ग्रहण करता है तो उसके (णियदं) निश्चय से (पाणारम्भो विज्जदि) अपने शुद्ध चैतन्य लक्षण प्राणों का विनाश रूप अथवा प्राणियों का वध रूप प्राणारम्भ होता है तथा (तस्स चित्तम्मि विक्खेवो) उस क्षोभ रहित चित्तरूप परमयोग से रहित परिग्रह पुरुष के चित्त में विक्षेप होता है या आकुलता होती है वह यदि (पततं च चेलखंडं) भाजन को या वस्त्र खण्ड को (गेण्हइ) अपने शुद्धात्मा के ग्रहण से शून्य होकर ग्रहण करता है, (विधुणइ) कर्म धूल को झाड़ना छोड़कर उसकी बाह्य धूल को झाड़ता है (धोवइ) निज परमात्म तत्त्व में मल उत्पन्न करने वाले रागादि मल को छोड़कर उनके बाहरी मैल को धोता है (जदं तु आदवे खित्ता सोसेइ) और निर्विकल्प ध्यान रूपी धूप से संसार नदी को नहीं सुखाता हुआ यत्नवान् होकर उसे धूप में डालकर सुखाता है (परदो य विभेदि) और निर्भय शुद्ध आत्म तत्त्व की भावना से शून्य होकर दूसरे चोर आदिकों से भय करता है। (पालयदि) तथा परमात्म भावना की रक्षा छोड़कर उनकी रक्षा करता है।

**समीक्षा-**आचार्यश्री ने इस गाथा में कौनसा बहिरंग त्याग यथार्थ है और कौनसा बहिरंग त्याग अयथार्थ है इसका प्रतिपादन किया है। जो बहिरंग त्याग अंतरंग त्यागपूर्वक होता है वह बहिरंग त्याग यथार्थ त्याग है और जो बहिरंग त्याग अंतरंग त्यागपूर्वक नहीं होता उसे बहिरंग त्याग नहीं कहते हैं जो अंतरंग त्यागी है उसका बहिरंग त्याग अवश्य होगा ही। अंतरंग त्याग का बहिरंग त्याग के साथ अविनाभावी संबंध है परन्तु बहिरंग त्याग का अंतरंग त्याग के साथ अविनाभावी संबंध नहीं है।

जिस प्रकार जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ अग्नि होगी ही पर जहाँ अग्नि है वहाँ धूम हो सकती है और नहीं भी हो सकती है उसी प्रकार अंतरंग में जो छाटा, सातवाँ गुणस्थानवर्ती है वह बहिरंग में भी संपूर्ण परिग्रह त्यागी अवश्य होगा। परन्तु जो बाह्य में नग्न है वह अंतरंग में छाटा, सातवाँ गुणस्थानवर्ती हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। जिस प्रकार नारकी, पशु, कुछ पगले बच्चे बहिरंग से नंगे रहते हैं पर अंतरंग से निर्ग्रथ नहीं रहते हैं इसी प्रकार भव्य एवं मिथ्यादृष्टि बहिरंग से त्यागी होते हुए भी अंतरंग में ग्रंथि (परिग्रह) से युक्त रहते हैं यह निर्ग्रथता मोक्षमार्ग के लिए अकिंचित्कर है। कुंदकुंद देव ने अष्ट पाहुड़ (भाव प्राभृत) में कहा भी है-

**भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरंगंथस्स कीरणे चाओ।**

**बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरंगंथजुत्तस्स॥ (3)** (अष्टपाहुड़ पृ. 249)

भावों की विशुद्धि के लिए बाह्य परिग्रह त्याग किया जाता है। जो अंतरंग परिग्रह से सहित है उसका बाह्य त्याग निष्फल है।

**परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुच्चेइ बाहरे य जई।**

**बाहिरंगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ॥ (5)**

भाव के अशुद्ध रहते हुए यदि कोई बाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो उस भाव विहीन मनुष्य का बाह्य परिग्रह त्याग क्या कर देगा? अर्थात् कुछ नहीं।

**जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिण्ण।**

**पंथिय सिवउरिपंथं जिणउवइडुं पयत्तेण॥ (6)**

भाव को प्रमुख जानकर भावरहित लिंग से तुझे क्या प्रयोजन है उससे तेरा कौनसा कार्य सिद्ध होने वाला है? हे पथिक! मोक्षनगर का मार्ग जिनेन्द्र भगवान् ने बड़े प्रयत्न से बताया है।

**भावरहिण्ण सउरिस अणाइकालं अणंतसंसारे।**

**गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरनिगंथरूवाइं॥ (7)**

हे सत्पुरुष! तूने भाव रहित होकर अनादि काल से इस अनंत संसार में बहुत बार बाह्य निर्ग्रथ मुद्रा को ग्रहण किया तथा छोड़ा है। अंतरंग त्याग बिना बहिरंग त्याग इसलिये निष्फल है कि अंतरंग परिणाम से ही आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष होता है। अतः परिणाम विशुद्धि के बिना बहिरंग त्याग मोक्षमार्ग के लिए अकिंचित्कर है। इतना ही नहीं, यदि प्रसिद्धि, ख्याति, अहंकार, लाभ आदि दूषित भावनाओं से



प्रेरित होकर कोई त्याग करता है तो उसका त्याग भी उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार विषधर सर्प काँचली तो त्याग कर लेता है परन्तु विष त्याग नहीं करता है। कुन्दकुन्द देव ने समसार में कहा भी है-

**सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि।**

**पगरणचेद्धा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि।। (206)**

(समयसार पृ. 200)

कोई भोगों को सेवता हुआ भी सेवन नहीं करता। (जैसे अभया रानी के चंगुल में फँसे हुए सेठ सुदर्शन के समान विवशता वश किसी विषय को भोगता हुआ-सा होकर भी वह उसका भोगने वाला नहीं होता) दूसरा कोई नहीं सेवन करता हुआ भी उसका सेवन करने वाला होता है। जैसे कि किसी विवाह में जिसका विवाह होता है वह उस विवाह का कुछ भी काम नहीं करता किन्तु उस विवाह में आये हुए पाहुने आदिक-जिनका विवाह नहीं होना है उस विवाह का सब काम करते हैं।

ज्ञानी जीव सब ही द्रव्यों के प्रति होने वाले राग को छोड़ देता है अतः वह ज्ञानावरणादि कर्म सहित होकर भी नवीन कर्मरज से लिप्त नहीं होता। जैसे कि कीचड़ में पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता है किन्तु अज्ञानी जीव सभी द्रव्यों में राग रखता है इसलिये कर्मों के फंदे में फँसकर नित्य नये कर्मबंध किया करता है जैसे कि लोहा कीचड़ में पड़ने पर जंग खा जाया करता है।

**सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि य।**

**धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।। (293)**

सद्दहदि य श्रद्धान करता है, उसे पत्तेदि य ज्ञान के द्वारा प्रतीति में लाता है उसकी जानकारी प्राप्त करता है रोचेदि य विशेष रूप से विश्वास लाता है तह पुणोवि फासेदि य-तथा उसे छूता है अर्थात् आचरण में लाता है। कौनसे धर्म को लाता है? 'किं धम्मं भोगणिमित्तम्' अहमिन्द्रादि का कारण होने से जो धर्म भोगों का विशेष रूप से साधन है उस पुण्यरूप धर्म को भोगों की अभिलाषा से ही धारण करता है 'ण दु सो कम्मक्खय णिमित्तं' किन्तु शुद्धात्मा की संवित्ति है लक्षण जिसका ऐसा जो निश्चय धर्म जो कि कर्मों के नाश करने में निमित्त होता है उस धर्म को नहीं मानता नहीं जानता आदि।

पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि “मूढ़ व्यक्ति अंतरंग परिशुद्धि के बिना, त्याग के बिना, परिमार्जन के बिना, केवल बाह्य त्याग, बाह्य शुद्धि को ही महत्व देता है वह बाह्य त्यागादि में ही संतुष्टि कर लेता है। बहिरंग त्याग अंतरंग त्याग के लिए अंतरंग विशुद्धि के लिए होना चाहिए था परंतु उसका बाह्य त्याग अंतरंग कलुषता के लिए, वृद्धि के लिए, अहंकार के लिए बन जाता है ऐसे त्याग से न शारीरिक स्वास्थ्य मिलता है न मानसिक न आत्मिक न इहलोक सुख न परलोक सुख।”

**अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः।**

**कृ रूष्यामि कृ तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः॥ (46)** समाधितंत्र पृ.68

अंतरात्मा को अपने अनाद्यविद्या रूप भ्रांत संस्कारों पर विजय प्राप्त करने के लिए सदा ही यह विचार करते रहना चाहिए कि जिन पदार्थों को मैं इन्द्रियों के द्वारा देख रहा हूँ वे सब तो जड़ है चेतना रहित है उन पर रोष-तोष करना व्यर्थ है-वे उसे कुछ समझ नहीं सकते-और जो चैतन्य पदार्थ है वे मुझे दिखाई नहीं पड़ते वे मेरे रोष-तोष का विषय ही नहीं हो सकते। अतः मुझे किसी से राग-द्वेष न रखकर मध्यस्थ भाव का ही अवलम्बन लेना चाहिए।

**बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे।**

**तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिव्यावृत कौतुकः॥ (60)**

मूढात्मा और प्रबुद्धात्मा की प्रवृत्ति में बड़ा अंतर होता है। मूढात्मा मोहोदय के वश महाअविवेकी होता हुआ समझाने पर भी नहीं समझता और बाह्य विषयों में ही संतोष मानता हुआ फँसा रहता है। प्रत्युत इसके, प्रबुद्धात्मा को अपने आत्म स्वरूप में लीन रहने में ही आनंद आता है और इसी से वह बाह्य विषयों से अपने इन्द्रिय व्यापार को हटाकर प्रायः उदासीन रहता है।

**यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।**

**यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते॥ (95)**

जिस विषय में किसी मनुष्य की बुद्धि संलग्न होती है-खूब सावधान रहती है-उसी में आसक्ति बढ़कर उसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और जहाँ श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वही चित्त लीन रहता है चित्त की लीनता ही सुप्त और उन्मत्त-जैसी अवस्थाओं में मनुष्य को उस विषय की ओर से हटने नहीं देती-सोते में भी वह उसी के स्वप्न देखता है और पागल होकर भी उसी की बातें किया करता है।

**यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।**

**यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः॥ (96)**

जिस विषय में किसी मनुष्य की बुद्धि संलग्न नहीं होती भले प्रकार सावधान नहीं रहती-उसमें अनासक्ति बढ़कर श्रद्धा उठ जाती है और जहाँ से श्रद्धा उठ जाती है वहाँ चित्त की लीनता नहीं हो सकती। अतः किसी विषय में आसक्ति न होने का रहस्य बुद्धि को उस विषय की ओर अधिक न लगाना ही है-बुद्धि का जितना कम व्यापार उस तरफ किया जायेगा और उसे अहितकारी समझकर जितना कम योग दिया जायेगा उतना ही उस विषय से अनासक्ति होती जायेगी और फिर सुप्त तथा उन्मत्त अवस्था हो जाने पर भी उस और चित्त की वृत्ति नहीं जायेगी।

उत्सर्ग रूप से बाह्य धन, वैभव के साथ-साथ शरीर भी परिग्रह होने के कारण त्यजनीय है तथापि प्राथमिक अवस्था में “शरीर माध्यम् खलु-धर्म साधनम्” अर्थात् शरीर के माध्यम से धर्म की साधना होती है इसलिये शरीर को धर्म के साधन में एक उपकरण मात्र मानना चाहिए उसी प्रकार पिच्छी, कमंडल, शास्त्रादि भी उपकरण रूप में ग्राह्य है। हीन संहनन की अपेक्षा सूखी घास, घास की चटाई, फलक (पाटा) आदि भी ग्राह्य है, परंतु इसको छोड़कर अनावश्यक राग-वर्धक वस्त्र, गद्दी तकिया, पात्र, यान, वाहन आदि समस्त परिग्रह त्यजनीय है क्योंकि इससे राग बढ़ता है, परिग्रह संबंधी दोष उत्पन्न होते हैं, संकल्प, विकल्प की परंपरा प्रारंभ हो जाती है, आरंभ-परिग्रह जनित दोष भी लगते हैं। साधुओं को मंदिर, मठ, संस्था, धर्मशाला, मूर्ति, पंचकल्याण, प्रतिष्ठा, पूजा, विधान, रथयात्रा आदि के लिए भी न धन की याचना करनी चाहिए, न ग्रहण करना चाहिए, न संचय करना चाहिए। इसी प्रकार साधु संघ की व्यवस्था के लिए भी साधु को धन-संपत्ति का संग्रह करना, याचना करना, चंदा इकट्ठा करना सर्वथा वर्जनीय है। भाव संग्रह में भी परिग्रह रखना जैन धर्म के बाह्य एवं साधुता के विरुद्ध कहा है।

**जइ सग्गन्थो मुक्खं तित्थयरो किं मुंचहि णियरज्जे।**

**रयण णिहाणेहि समं किं णिवसइ णिज्जे रण्णो॥ (88)**

यदि परिग्रहों के रखते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो फिर तीर्थंकरों को अपना राज्य छोड़ने की क्या आवश्यकता थी, अनेक प्रकार रत्न तथा निधियों के छोड़ने की भी क्या आवश्यकता थी और फिर सबको छोड़कर निर्जन वन में जाने

की क्या आवश्यकता थी?

**रयण णिहाणं छंडह सो कि गिण्हेहि कंवली खण्डं।**

**दुद्धिय दंड च पडं गिहत्थ जोगं जिणंपि।। (89)**

यदि परिग्रह रखते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती तो तीर्थंकर रत्न और निधियों को छोड़कर अन्य परिग्रह क्यों ग्रहण करते हैं? वस्तुस्थिति यह है कि समस्त पदार्थों का त्याग कर निर्ग्रंथ अवस्था धारण करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। संग्रंथ अवस्था से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

### **परिग्रहधारी आत्मसाधक नहीं**

**किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।**

**तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि।। (221) प्र.सा.**

(if he accepts these athings) how then is he not liable to infatuation, preliminary sin and lack of control? Similarly when a monk is attached to external things, how will he realize his self?

आगे आचार्य कहते हैं कि जो परिग्रहवान है उसके नियम से चित्त की शुद्धि नष्ट हो जाती है-

(तम्हि) उस परिग्रह सहित साधु में (किध) किस तरह (मुच्छा) परद्रव्य की ममता से रहित चैतन्य के चमत्कार की परिणति से भिन्न मूर्च्छा (वा आरम्भो) अथवा मन वचन काय की क्रिया रहित परम चैतन्य के भाव में विघ्नकारण आरंभ (णत्थि) नहीं है किन्तु है ही (तस्स असंजमो) और उस परिग्रहवान के शुद्धात्मा के अनुभव से विलक्षण असंयम भी किस तरह नहीं है किन्तु अवश्य है (तध) तथा (परदव्वम्मि रदो) अपने आत्म द्रव्य से भिन्न परद्रव्य में लीन होता हुआ (कधमप्पाणं पसाधयदि) किस तरह अपने आत्मा की साधना परिग्रहवान पुरुष कर सकता है अर्थात् किसी भी तरह नहीं कर सकता है।

**समीक्षा-**आचार्यश्री ने अभी तक अनेक गाथाओं में यह सिद्ध किया है कि परिग्रहधारी निश्चय से हिंसक है ही भले जिनसे द्रव्य हिंसा हो गई है वह भाव अहिंसक हो सकता है, क्योंकि द्रव्य हिंसा तो अनिच्छा पूर्वक आनुशंगिक रूप में या अशक्य अनुष्ठान से हो सकती है, परन्तु बिना अंतरंग मूर्च्छा भाव से द्रव्य परिग्रह नहीं रह सकता है। यदि ऐसे है तो यह प्रश्न हो सकता है कि तीर्थंकर के समोशरण में बाह्य विभूति चक्रवर्ती के परिग्रह से भी अधिक है तो तीर्थंकर भी मूर्च्छावान,

परिग्रहधारी, हिंसक हो जायेंगे? परन्तु तीर्थंकर को यह दोष किंचित् भी नहीं लग सकता है, क्योंकि तीर्थंकर घाती कर्म के अभाव से पूर्ण रूप से वीतरागी, वीतमोही, निर्मम होते हैं। भाव मन के अभाव से व इच्छा से रहित होते हैं, परन्तु पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से इन्द्र धर्मसभा के लिए समोशरण की रचना करते हैं। समोशरण में गंधकुटी में सिंहासन में जो कमल रहता है उसके भी चार अंगुल भगवान् ऊपर विराजमान रहते हैं। परिस्थिति मानो यह बताती है कि भगवान् अपने शरीर से समोशरण को स्पर्श नहीं करते हैं वैसे ही भावों से भी अनासक्त हैं। समोशरण की बात दूर रहे वे अपने शरीर से भी निर्ममत्व रहते हैं। इसलिये समोशरण की विभूति रहते हुए भी वे पूर्ण अपरिग्रहधारी हैं। समंतभद्र स्वामी ने कहा भी है-

**प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत्।**

**मोक्षमार्गमशिषन्नरामरान् नापि शासनफलैषणातुरः॥ (3) पृ. 88**

समवशरण में धर्मजिनेन्द्र यद्यपि छत्रत्रय, चौसठ चमर, सिंहासन, भामंडल, अशोकवृक्ष, देवकृत, पुष्पवृष्टि, देवदुन्दुभि और दिव्यध्वनि इन आठ प्रातिहार्यों तथा समवशरणादि विभूतियों से सुशोभित थे, तथापि परमवीतराग होने से उन्हें इन सबसे कुछ भी रागभाव नहीं था। अथवा इनकी बात दूर रहे शरीर से भी उन्हें कुछ राग नहीं था, उससे भी वे पूर्ण विरक्त थे। राग की जड़ शरीर के राग में है, क्योंकि शरीर के राग से ही अन्य वस्तुओं का राग बढ़ता है। धर्मजिनेन्द्र जब शरीर से भी विरक्त हो चुके थे तब अन्य पदार्थों में उनका राग भाव कैसे विस्तृत हो सकता था? पूर्वसंचित भाषा वर्गणा के परमाणु समय पाकर खिरते थे उससे वे यद्यपि देव और मनुष्यों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते थे परन्तु उपदेश देने की इच्छा नहीं रहती थी। इच्छा मोहनीय कर्म के उदय से होती है तथा उसका क्षय दशम गुणस्थान में ही हो चुकता है अतः धर्मजिनेन्द्र के उपदेश देने की इच्छा का अभाव था। जो मनुष्य किसी खास इच्छा से प्रेरित होकर उपदेश देता है वह उपदेश के फल की इच्छा से निरंतर व्यग्र रहता है परन्तु धर्मजिनेन्द्र चूँकि इच्छा के बिना ही उपदेश देते थे इसलिए उन्हें उपदेश संबंधी फल की रञ्जमात्र भी इच्छा नहीं रहती थी और न उस इच्छाजन्य व्यग्रता ही कभी उन्हें दुःखी करती थी।

**कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवन्स्तव मुनेश्चिकीर्षया।**

**नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो धीर! तावकमचिन्त्यमीहितम्॥ (4)**

प्रश्न यह था कि हे भगवन्! जब आपको उपदेश के फल की इच्छा नहीं है

तब आपका विहार तथा दिव्यध्वनि का खिरना आदि कार्य क्यों होते हैं? इस श्लोक में उक्त प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया कि हे धर्मजिनेन्द्र! आपके शरीर की प्रवृत्ति अर्थात् विहार आदि, वचन की प्रवृत्ति अर्थात् उपदेश और मन की प्रवृत्ति अर्थात् वस्तु स्वरूप का चिंतन आदि कार्य इच्छापूर्वक नहीं होते क्योंकि इच्छा को उत्पन्न करने वाला मोह कर्म पहले ही नष्ट हो चुका है। अब दूसरा प्रश्न यह उठता है कि यदि आपके विहार आदि कार्य विचारपूर्वक-इच्छापूर्वक नहीं होते हैं तो फिर क्या बिना विचार किये होते हैं? अविचारित कार्य तो प्रशस्त नहीं होते? इसका उत्तर यह दिया गया है कि हे भगवन्! आपकी सब चेष्टाएँ असमीक्ष्यकारी नहीं हैं-अविचारितम्य नहीं हैं किन्तु सुविचारित ही हैं, यथार्थ में आपका चारित्र ही अचिन्त्य है अविरोध से युक्त होने के कारण उसका यथार्थ विचार नहीं किया जा सकता। आपके विहार आदि की क्रियाएँ तीर्थकर नामकर्म स्वाभाविक तथा प्राणियों के अदृष्ट-भाग्य के अनुसार होती हैं।

**मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।**

**तेन नाथ! परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष! प्रसीद नः॥ (5)**

यद्यपि धर्मजिनेन्द्र मनुष्य गति में उत्पन्न होने से मनुष्य थे तथापि उनका शरीर निरंतर पसीना से रहित था, मलमूत्र से रहित था और दूध के समान सफेद रूधिर से युक्त था इस तरह वे मानवीय स्वभाव का उल्लंघन कर चुके थे। इतना ही नहीं वे इंद्र चन्द्र आदि देवताओं में भी देवता थे-पूज्य थे इसलिये अन्य मनुष्यों के समान उनकी प्रवृत्तियाँ भी इच्छापूर्वक ही होना चाहिए यह आवश्यक नहीं है। अन्य मनुष्यों तथा देवों के साथ उनकी तुलना नहीं की जा सकती उनसे तो सर्वस्व समर्पण के रूप में यही कहा जा सकता है कि हे नाथ! हे गणधरादि देशजिनों में प्रधान! धर्मजिनेन्द्र! आप हमारे कल्याण के लिए हम पर प्रसन्न हुजिये-आप हमारे लिए मोक्षदाता हुजिये।

परंतु राग-द्वेष से युक्त छद्मस्थ जीव के लिए उपर्युक्त सिद्धांत सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि जो अंतरंग से इच्छा, ममत्व, राग से युक्त होता है। वह अनिच्छापूर्वक परिग्रह को धारण नहीं कर सकता है। जिस प्रकार सिद्ध भगवान् कर्म वर्गणा रूपी समुद्र में रहते हुए भी कर्म से निर्लिप्त रहते हैं परंतु राग-द्वेषी जीव निर्लिप्त नहीं रह सकता है, क्योंकि वह राग-द्वेष के कारण कर्मबंध अवश्य करेगा ही। इसी प्रकार परिग्रह के लिए भी जानना चाहिए। इसलिये कुंदकुंद देव ने इस गाथा में कहा है कि

जिसके पास परिग्रह का सद्भाव है वह मूर्च्छावान्, परिग्रहवान् कैसे नहीं होगा? अवश्य ही होगा। जो बाह्य द्रव्य संग्रह करता है, बाह्य द्रव्य कमाता है, बाह्य द्रव्य में रूचि लेता है, वह आत्म द्रव्य में किस प्रकार रूचि ले सकता है, रमण कर सकता है। एक कवि ने कहा भी है-

**दो मुख राही चले न पंथा, दो मुख सुई सिये न कंथा।**

**दोऊ काज न होय सयाने, विषय कषाय अरु मोक्ष प्रयाणे।।**

जिस प्रकार जहाँ अंधकार होता है वहाँ प्रकाश नहीं होता है और जहाँ प्रकाश होता है वहाँ अंधकार नहीं होता है। जितने-जितने अंश में प्रकाश बढ़ता जाता है उतने-उतने अंश में अंधकार घटता जाता है। उसी प्रकार जितने-जितने अंश में आत्म वैराग्य बढ़ता जाता है उतने-उतने अंश में परिग्रह कम होता जाता है। जितने-जितने अंश में परिग्रह कम हो जाता है उतने-उतने अंश में आत्मा की लीनता बढ़ती जाती है। जिस प्रकार रेखागणित में एक समकोण को दो कोण में विभक्त किया जाता है तब उन दोनों कोण में से एक कोण बढ़ने पर दूसरा कोण कम हो जाता है तथा दूसरा कोण कम होने पर प्रथम कोण बढ़ जाता है। ये परस्पर अनुपूरक व परिपूरक हैं। इसी प्रकार आत्म लीनता एवं परिग्रह त्याग परस्पर अनुपूरक-परिपूरक हैं। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है-

**यथा-यथा समायांति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।**

**तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।। (37) पृ. 196**

जब तक आत्म स्वरूप का यथार्थ भान नहीं होता, तब तक ही उसे पंचेन्द्रियों के विषय प्रिय मालूम होते हैं और उनमें रति करता हुआ अपने को सुखी अनुभव करता है, परन्तु जिस समय उसे अपने निजानन्द चैतन्य स्वरूप का भान हो जाता है तब उन विषय-सुखों से उसकी स्वयमेव विरक्तता एवं अरूचि हो जाती है और वह उनका परित्याग कर देता है। लोक में यह प्रवाद है कि अधिक सुख के कारण मिलने पर अल्पसुख के कारणों में अनादर हो जाता है। योगियों को यह भलीभाँति विदित है कि विषयभोग सांसारिक पराधीन अल्पसुख (सुखाभास) के कारण है और आत्म स्वरूप का चिंतन निराकुलता रूप आत्मसुख का जनक है। इसी कारण वे देह भोगों से विरक्त हो एकांतवासी बन स्व-पर के विवेकरूप चिंतन में ही उपयोग को लगाते हैं उनकी भोगों के प्रति क्या आस्था होती है यह निम्न पद्य से स्पष्ट है-

**शमसुखशीलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।**

**स्थलमपि दहति झषाणां किमंग पुनरंगमंगाराः॥ (1)**

जिस प्रकार शुष्क भूमि (सूखी जमीन) भी जब मछलियों के लिए प्राण घातक है तब अग्नि की तो बात ही क्या है-अग्नि की गर्मी से मछलियाँ जरूर मृत्यु को प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार जिनका चित्त समतारूपी सुख से सम्पन्न है-परिपूर्ण है-वे जब शरीर स्थिति के कारण आहार आदि का महीनों एवं वर्षों के लिए परित्याग कर देते हैं तब कामभोगों को वे कैसे उपादेय मान सकते हैं? वे कामादि विकारों को सर्वथा हेय समझते हैं इसीलिए उनकी इनमें प्रवृत्ति भी नहीं होती। योगी चूँकि आत्म स्वरूप के परिज्ञानी होते हैं। इस कारण इनकी विषयों में अरुचि होना स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार रोग से पीड़ित रोगी, रोग का इलाज करता हुआ उस समय भी वह उस रोग को नहीं चाहता, तब आगे रोग की इच्छा कौन करेगा? उसी तरह सम्यग्ज्ञानी जीव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से पीड़ित हुआ कर्मजन्य क्रिया को करता है, परंतु वह उस क्रिया से उदासीन रहता है-रागी नहीं होता। तब भोगों की उसके अभिलाषा होती है यह कैसे कहा जा सकता है।

**निशामयति निःशेषामिंद्रजालोपमं जगत्।**

**स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुत्प्यते॥ (39)**

जब तक आत्मा को अपने असली स्वरूप का पता नहीं चलता तब तक ही उसे बाह्य पदार्थ भले प्रतीत होते हैं पर स्व-पर का भेदज्ञान होते ही उसे यह सारा जगत् इंद्रजाल के खेल के समान जान पड़ता है। इंद्रिय-विषय निस्सार एवं विनश्वर प्रतीत होते हैं। दृष्टि के बदलते ही सारा संसार बदला हुआ मालूम होता है अब दृष्टि में दृढ़ता, सत्यता और तत्त्वान्वेषण की रूचि होती है अतएव आत्म स्वरूप को छोड़कर अन्य पदार्थों की तरह उसकी दृष्टि नहीं जाती है-वह पहले अपने को सुधार कर आत्ममार्ग में प्रविष्ट कर-संसार में सुधार मार्ग का आदर्श उपस्थित करना चाहता है। उसे अब सांसारिक वैभव और शरीरादिक पदार्थ क्षणिक और निस्सार प्रतीत होते हैं। आचार्य अमितगति ने सुभाषित रत्नसन्दोह में कहा है-

**भवत्येता लक्ष्मीः कतिपयादिनान्येव सुखदास्तरूप्यस्तरूप्ये विदधति मनः प्रीतिमतुलां।**

**तडिल्लोलाभोगा वपुरविचलं व्याधि-कलितं बुधा संचित्येति प्रगुणा-**



**मनसो ब्रह्मणि रताः॥ (35)**

ज्ञानी को यह लक्ष्मी कुछ दिनों तक ही सुखद प्रतीत होती है। तरुण स्त्रियाँ यौवन में ही अतुल प्रीति को बढ़ाती हैं। भोग बिजली के समान चंचल और शरीर व्याधि सहित जान पड़ता है। संसार के पदार्थों की ऐसी स्थिति देखकर ज्ञानी जीव अपने आत्म स्वभाव में ही प्रेम करते हैं।

**यथा-यथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।**

**तथा-तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्॥ (38)**

ऊपर के 37वें पद्य का भावार्थ लिखते हुए यह बतलाये है कि आत्मा के विशुद्ध रूप की उपलब्धि में विषयों की अरूचि कारण है। इन्द्रिय विषयों की विरक्ति से आत्मा का वह विशुद्ध रूप अनुभव में आने लगता है, क्योंकि विषय-लोलुपता और परिग्रह संचय ये दोनों ही स्वात्मानुभव में बाधक हैं। अतएव जब विषयों की चाह और परिग्रह रूप ग्रंथि से मूर्च्छा हट जाती है तब आत्मा अपने आनंद का आस्वादी हो जाता है। समयसार कलश में कहा भी है-

**विरम किमपरेणा कार्य कोलाहलेन,**

**स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं।**

**हृदय सरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्न धाम्नो,**

**ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः॥ (34)**

हे आत्मन्! तू बिना प्रयोजन के इस निकम्मे कोलाहल से विरक्त हो और आत्म स्वरूप में लीन होकर छह महीने पर्यंत इस चैतन्य स्वरूप आत्मा को देख। पुद्गल से भिन्न तेज वाले आत्म स्वरूप की प्राप्ति क्या तेरे इस हृदय रूपी सरोवर से नहीं होगी? अर्थात् अवश्य होगी।

अतः आत्म स्वरूप के जो अभिलाषी हैं उन्हें चाहिए कि वे पञ्चेन्द्रिय के विषयों को हेय समझकर उनके परित्याग करने का प्रयत्न करे, और एकांत स्थान में बैठकर अपने उपयोग को आत्म तत्त्व के प्रति एकाग्र करने का प्रयत्न करें।

आत्मनुशासन में गुणभद्र स्वामी ने भी ममत्व-निर्मत्व, त्याग ग्रहण आदि विषयों का मार्मिक वर्णन किया है। यथा-

**अर्थिभ्यस्तृणवद्विचिन्त्य विषयान् कश्चिच्छ्रयं दत्तवान्।**

**पापां तामवितर्पिणीं विगणयन्नादात् परस्त्यक्तवान्॥**

**प्रागेवाकुशलां विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रहीत्।**

**एते ते विदितोत्तरोत्तरवराः सर्वोत्तमास्त्यागिनः॥ (102)**

कोई विद्वान् मनुष्य विषयों को तृण के समान तुच्छ समझकर लक्ष्मी (धन-संपत्ति) को याचकों के लिए दे देता है, दूसरा कोई विवेकी जीव उक्त लक्ष्मी को पाप का कारण और असंतोष जनक जानकर किसी दूसरे के लिए नहीं देता है, किन्तु उसे यों ही छोड़ देता है। तीसरा कोई महाविवेकी जीव उसको पहले ही अहितकर मानकर ग्रहण नहीं करता है। इस प्रकार ये त्यागी उत्तरोत्तर त्याग की उत्कृष्टता के जानने वाले हैं-उत्तरोत्तर उत्कृष्टता को प्राप्त हैं।

**विरज्य संपदः सन्तस्त्यजन्ति किमिहाद्भुतम्।**

**मा वमीत् किं जुगुप्सावान् सुभुक्तमपि भोजनम्॥ (103)**

यदि सज्जन पुरुष विरक्त हो करके उन संपत्तियों को छोड़ देते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? कुछ भी नहीं। ठीक ही है-जिस पुरुष को घृणा उत्पन्न हुई है वह क्या भले प्रकार खाये गये भोजन का भी वमन (उल्टी) नहीं करता है? अर्थात् करता ही है।

**श्रियं त्यजन् जडः शोकं विस्मयं सात्त्विकः स ताम्।**

**करोति तत्त्वविचित्रं न शोकं न च विस्मयम्॥ (104)**

मूर्ख पुरुष लक्ष्मी को छोड़ता हुआ शोक करता है तथा पुरुषार्थी मनुष्य उस लक्ष्मी को छोड़ता हुआ विशेष अभिमान करता है, परन्तु तत्त्व का जानकार उसके परित्याग में न तो शोक करता है और न विशिष्ट अभिमान ही करता है।

**दयादमत्यागसमाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।**

**नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्प दूरं परमं किमप्यसौ॥ (107)**

हे भव्य, तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इन्द्रिय दमन, दान और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है।

**विज्ञाननिहतमोहं कुटीप्रवेशो विशुद्धकायमिव।**

**त्यागः परिग्रहाणामवश्यमजरामरं कुरुते॥ (108)**

विवेक ज्ञान के द्वारा मोह के नष्ट हो जाने पर किया गया परिग्रहों का त्याग निश्चय से जीव को जरा और मरण से रहित इस प्रकार कर देता है जिस प्रकार कि

कुटी प्रवेश क्रिया शरीर को विशुद्ध कर देती है।

**अभुक्त्वापि परित्यागात् स्वोच्छिष्टं विश्वमासितम्।**

**येन चित्रं नमस्तस्मै कौमारब्रह्मचारिणे।। ( 109)**

आश्चर्य है कि जिसने स्वयं न भोगते हुए त्याग करके अपने उच्छिष्ट रूप विश्व का उपभोग कराया है उस बाल ब्रह्मचारी के लिए नमस्कार हो।

**श्रमण द्वारा उपकरण ग्राह्य है**

**छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।**

**समणे तेण्ह वट्टु कालं खेतं वियाणित्ता।। (222) प्र.सा.**

A monk should so conduct (his course of duties), understanding the (necessities of) time and place, that, when using the paraphernalia, there should not be any default (with respect to primary virtues) in accepting and abandoning it.

आगे कहते हैं कि काल की अपेक्षा से साधु की शक्ति परम उपेक्षा संयम के पालने की न हो तो वह आहार करता है, संयम का उपकरण पिच्छी व शौच का उपकरण कमंडल व ज्ञान का उपकरण शास्त्रादिको ग्रहण करता है, ऐसे अपवाद मार्ग का उपदेश देते हैं-

(जेण गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स) जिस उपकरण के ग्रहण करने व रखने में उस-उस उपकरण के सेवने वाले साधु के (छेदो ण विज्जदि) शुद्धोपयोग मई संयम का घात न होवे (तेण हि समणो कालं खेतं वियाणित्ता वट्टु) उसी प्रकरण के साथ इस लोक में साधु क्षेत्र और काल को जानकर वर्तन करें। यहाँ यह भाव है कि काल की अपेक्षा पञ्चमकाल या शीत-उष्ण आदि ऋतु, क्षेत्र की अपेक्षा भरतक्षेत्र, मनुष्य क्षेत्र या नगर जंगल आदि इन दोनों को जानकर जिस उपकरण से स्वसंवेदन लक्षण भावसंयम का अथवा बाहरी द्रव्य संयम का घात न होवे, उस तरह से मुनि को वर्तना चाहिए।

आत्म द्रव्य के द्वितीय पुद्गल द्रव्य का अभाव होने से समस्त ही उपधि निषेध है-ऐसा उत्सर्ग है और विशिष्ट काल क्षेत्र के वश कोई उपधि अनिषेध है-ऐसा अपवाद है। जब श्रमण सर्व उपधि के निषेध का आश्रय लेकर परमोपेक्षा संयम को प्राप्त करने का इच्छुक होने पर भी विशिष्ट काल क्षेत्र के वश हीन-शक्ति वाला होने से उसे प्राप्त करने में असमर्थ होता है, तब उसमें हीनता करके अनुत्कृष्ट संयम प्राप्त करता हुआ

उस संयम की बहिरंग साधन मात्र उपधि का आश्रय लेता है। इस प्रकार जिस उपधि का आश्रय लिया जाता है ऐसी वह उपधि उपधिपन के कारण भी वास्तव में छेदरूप नहीं है, प्रत्युत छेद की निषेधरूप ही है। जो उपधि अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती, वह छेद है किन्तु यह उपधि तो श्रामण्यपर्याय की सहकारी कारणभूत शरीर की स्थिति के हेतुभूत आहार-निहारादि के ग्रहण-विसर्जन संबंधी छेद के निषेधार्थ ग्रहण की जाने से सर्वथा शुद्धोपयोग सहित है, इसलिये छेद के निषेध रूप ही है।

**समीक्षा**—श्रमण को यह ज्ञान एवं श्रद्धा रहती है कि शरीर से भिन्न सभी पदार्थ पर है इसलिये त्यजनीय है तथापि रत्नत्रय की जब तक अपूर्णता रहती है, केवलज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है, वीर्यातराय कर्म का मंद क्षयोपशम रहता है और चारित्र मोहनीय कर्म का उदय रहता है तब तक रत्नत्रय के बाह्य साधक स्वरूप शरीर की रक्षा के लिए भोजन, औषधि, आवास (वसतिका) विपरीत काल के प्रभाव से रक्षा के लिए घास से निर्मित चटाई, घास, काष्ठ, फलक (पटा) को ग्रहण करता है। मल उत्सर्ग के बाद शारीरिक शुद्धि के लिए जलपात्र (कमण्डल) तथा ज्ञान-उपकरण स्वरूप शास्त्र, लेखनी, कागज आदि तथा संयम उपकरण स्वरूप पिच्छी को भी ग्रहण करता है। दीक्षा के अवसर पर दीक्षा गुरु नवीन श्रमण को तीनों उपकरणों को निम्नोक्त मंत्रपूर्वक प्रदान करते हैं। यथा-

1. ॐ णमो अरहंताणं भो अन्तेवासिन्! षडजीवनिकायरक्षणाय मार्दवादि गुणोपेतमिदं पिच्छिकोपकरणं गृहण गृहाणेति।

2. ॐ णमो अरहंताणं, मतिश्रुतावधि मनःपर्ययज्ञानाय द्वदशांग श्रुतायनमः भो अन्तेवासिन्! इदं ज्ञानोपकरणं गृहाण गृहाणेति।

3. कमंडलुं वामहस्तेन उद्धृत्य ॐ णमो अरहंताणं रत्नत्रयपवित्रीकरणांगाय बाह्याभ्यन्तर मलशुद्ध्यय नमः भो अन्तेवासिन्। इदं शौचोपकरणं गृहाण गृहाणेति।

(1) 'ॐ णमो अरहंताणं' इत्यादि मंत्र को बोलकर दीक्षित को पिच्छी अर्पण करें। पिच्छी देने का अभिप्राय यह है कि छह काय के जीवों की रक्षा करने के लिए तथा कोमलता आदि गुणों से युक्त होने के कारण यह क्रिया की जाती है तथा (2) 'ॐ णमो अरहंताणं' इत्यादि मंत्र का उच्चारण करके मतिज्ञानादि की प्राप्ति के लिए ज्ञान के उपकरण शास्त्र देवें। (3) 'ॐ णमो अरहंताणं' इत्यादि मंत्र को बोलकर कमंडलु को बाँये हाथ से उठाकर शिष्य को देवे, इसका अभिप्राय यह है कि बाह्य

और अभ्यंतर मल की शुद्धि करने के लिए यह शौच का उपकरण दिया जाता है।

शौच उपकरण स्वरूप कमंडलु लकड़ी या एक विशेष नारियल से बनता है। ज्ञानोपकरण स्वरूप शास्त्र आदि सुप्रसिद्ध है ही। संयम उपकरण स्वरूप पिच्छी मयूर के द्वारा स्वेच्छा से छोड़े गये पंख से बनती है। इसमें मृदु, हल्का, धूलि को ग्रहण नहीं करना आदि योग्यता होने से संयम के लिए उपयोगी है। शास्त्र में कहा भी है-

**इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे।**

**उव्वत्तणपरिवत्तण पसारणाउंटणामरसे।। (95)** पृ. 129 भगवती आ.

गमन में, ग्रहण में, रखने में, मल त्याग में, स्थान में बैठने में, शयन में, ऊपर को मुख करके सोने में, करवट लेने में, हाथ-पैर फैलाने में, संकोचन में और स्पर्शन में पिच्छी से परिमार्जन करना चाहिए।

जिसका जिसके साथ संबंध होता है दूर होते हुए भी वह उसका होता है, इस क्रम के अनुसार प्रतिलेखन के दूर होते हुए भी यहाँ उसके साथ संबंध लगाना चाहिए। ईर्या अर्थात् गमन करते हुए यदि अपने पैर रखने के देश (स्थान) में चींटी आदि को दूर करना अशक्य हो, अथवा अपने पैरों में लगी हुई धूल से आगे की भूमि विरुद्ध योनि वाली हो या यदि जल में प्रवेश करना हो तो पिच्छी से त्रसादि जीवों को दूर करना चाहिए। अर्थात् पिच्छी से उस देश का पैर आदि का परिमार्जन करके चलना चाहिए। ज्ञान और चारित्र के साधन पुस्तक कमंडलु आदि को ग्रहण करते समय, या उन्हें रखते समय, जो वस्तु रखे और जहाँ रखे उन दोनों का प्रमार्जन करना चाहिए-पिच्छी के द्वारा उन्हें झाड़ना चाहिए। शरीर के मल-मूत्रादि का त्याग करते समय यदि भूमि अयोग्य हो तो उसका प्रमार्जन करना चाहिए। स्थान, आसन और सोते समय मुख ऊपर करके सोते हुए या करवट लेते समय या हाथ-पैर फैलाते और संकोचते समय, किसी वस्तु को छूते समय पिच्छी से प्रमार्जन करना चाहिए। यहाँ आमरस शब्द से स्पर्शन क्रिया को कहा है।

**पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सगपक्खे।**

**विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरुवदा चेव।। (96)**

उक्त क्रिया करते समय पिच्छी के द्वारा प्रतिलेखना करना चाहिए इस प्रकार पूर्व गाथा से संबंध है। अपनी प्रतिज्ञा में पिच्छी चिह्न होती हैं और प्रतिलेखना रूप लिंग मनुष्यों को विश्वास कराने वाला है और प्राचीन मुनियों का प्रतिबिम्ब रूप है।

मुनि की प्रतिज्ञा सब जीवों पर दया करना है। अतः पिच्छी उसका चिह्न है तथा यह चिह्न मनुष्यों में विश्वास उत्पन्न कराता है कि जब यह व्यक्ति अतिसूक्ष्म कीट आदि जीवों की भी रक्षा के लिए पिच्छी लिए हुए है तो हमारे जैसे बड़े जीवों को कैसे बाधा पहुँचा सकता है तथा पिच्छी धारण करने से प्राचीन मुनियों का जो रूप था उसी की छाया वर्तमान मुनियों में आ जाती है।

**रथसेयाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लघुत्तं च।**

**जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति।। (97)**

जो धूलि और पसीने को पकड़ती न हो, कोमल स्पर्श वाली हो सुकुमार हो और हल्की हो। जिसमें ये पाँच गुण होते हैं उस प्रतिलेखना की प्रशंसा करते हैं।

सचित्त या अचित्त रज और पसीने का ग्रहण न करती हो, क्योंकि अचित्त रज को ग्रहण करने वाली पिच्छी से सचित्त रज की प्रति लेखना करने पर उनमें रहने वाले जीवों का घात होता है और सचित्त रज के ग्रहण करने वाली पिच्छी से अचित्त रज की प्रतिलेखना करने पर भी घात होता है पसीने को पकड़ने वाली पिच्छी से रज में रहने वाले जीवों का घात होता है तथा पिच्छी कोमल स्पर्श वाली सुकुमार और हल्की होनी चाहिए। जिस प्रतिलेखन में यह पाँच गुण होते हैं, दया की विधि को जानने वाले उसकी प्रशंसा करते हैं। इसका भाव यह है कि कठोर, असुरकुमार और भारी प्रतिलेखना से जीवों का घात ही होता है दया नहीं। इस प्रकार लिंग को स्वीकार करने वाले साधु के चार गुणों से युक्त लिंग का कथन किया।

उपर्युक्त उपकरण रत्नत्रय के उपकार के लिए होने के कारण साधक साधु के लिए उपकारी है इसलिये दोषकारक नहीं है, गुणकारक है। साधक इसे यदि ग्रहण नहीं करेगा और प्रयोग नहीं करेगा तो गुण की अपेक्षा दोष अधिक होंगे क्योंकि, इसके बिना शरीर की शुद्धि नहीं हो सकती है, जीवों की रक्षा नहीं हो सकती है, आगम का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिये कुंदकुंद देव ने कहा है कि 'णिपीच्छिकस्स णत्थि णिव्वाणं' अर्थात् पिच्छी से रहित श्रमण को निर्वाण नहीं मिलता है। परन्तु यह उपकरण उतना ही होना चाहिए जितनी की आवश्यकता है और उसमें भी मूर्च्छा-ममत्व नहीं होना चाहिए। मूर्च्छा-ममत्व रहते ही वे उपकरण नहीं रह जायेंगे, परिग्रह हो जायेंगे और यह परिग्रह संसार के लिए कारण है। संघस्थ शिष्य श्रमण गुरु के द्वारा प्रदत्त उपकरण ग्रहण करता है परन्तु स्वयं दूसरों से याचना नहीं करता है। यथा-

गुरूणा दीयमानानि वस्तूनि बहुभावतः।

पाणिद्वयेन संगृह्य पुनरप्यभिवन्दयेत्॥ (82) पृ. 56 नीतिसार

गुरु द्वारा दी हुई वस्तु को बहुमान (आदर) पूर्वक अपने दोनों हाथों से स्वीकार (ग्रहण) करके नमस्कार करना योग्य है।

संघाचार्य या संघाधिपति श्रमण भी निर्ग्रन्थ होने के कारण किसी प्रकार परिग्रह नहीं रखता है परन्तु संघ की व्यवस्था के लिए योग्य उपकरण श्रावकों से आगमानुकूल ग्रहण करता है। यथा-

कचिक्कालानुसारेण, सुरिद्रव्यमुपाहरेत्।

संघ पुस्तकवृद्धयर्थमयाचितमथाल्पकम्॥ (85) पृ. 57

आचार्य को किसी जगह कालानुसार चतुर्विध संघ के और शास्त्रों की उन्नति के लिए याचना रहित और अल्पद्रव्य स्वीकार करना योग्य है अर्थात् अपने संघ व शास्त्रों की वृद्धि के लिए आचार्य यदि याचना रहित अल्पद्रव्य भी स्वीकार करे तो आगमानुकूल है ऐसा भाव है।

शरीर भी पर द्रव्य होते हुए श्रमण के लिए शरीर रत्नत्रय के लिए कारण है इसलिये इस रत्नत्रय की सुरक्षा के लिए शरीर की सुरक्षा करता है, आहार-औषध से भी उसे योग्य बनाता है। गुणभद्र स्वामी ने व्याज अलंकार से कहा भी है-

क्षणार्धमपि देहेन साहचर्यं सहेत कः।

यदि प्रकोष्ठमादाय न स्याद्बोधो निरोधकः॥ (117) पृ. 111 आत्मानुशा

यदि ज्ञान पोंचे (हथेली के ऊपर का भाग) को ग्रहण करके रोकने वाला न होता तो कौनसा विवेकी जीव उस शरीर के साथ अर्द्धक्षण के लिए भी रहना सहन करता? अर्थात् नहीं करता।

### उपकरणों का स्वरूप

अप्पडिकुट्टं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।

मुच्छादिजणणरहिदं गेणहुदु समणो जदि वि अप्पं॥ (223) (प्र.सार)

Let the monk accept that lititle (quantity) paraphernalia, which does not involve bondage (i.e., which is sanctioned by the scripture), which is not desired for by men who are not self controlled (i.e., which is essential for maintaining self-control) and which does not give rise to (any) infatuation etc.

आगे पूर्वगाथा में जिन उपकरणों को साधु अपवाद मार्ग में काम में ले सकता है उनका स्वरूप दिखलाते हैं।

(समणो) साधु (उवधि) परिग्रह को (अप्पडिकुट्टं) जो निषेधने योग्य न हो (असंजदजणेहिं अपत्थणिज्जं) असंयमी लोगों के द्वारा चाहने योग्य न हो (मुच्छादिजणणरहिदं) मूर्च्छा आदि भावों को न उत्पन्न करे (जदि वि अप्प) यद्यपि अल्प हो (गेण्हदु) तो भी ग्रहण करें।

साधु महाराज ऐसे उपकरणरूपी परिग्रहों को ही ग्रहण करे जो निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग में सहकारी कारण होने से निषिद्ध न हो, जिसको वे असंयमी जन जो निर्विकार आत्मानुभव रूप भाव संयम से रहित हैं, कभी माँगे नहीं, न उसकी इच्छा करे तथा जिसके रखने से परमात्म द्रव्य से विलक्षण बाहरी द्रव्यों में ममता रूप मूर्च्छा न पैदा हो जावे, न उसके उत्पन्न करने को दोष हो, न उसके संस्कार से दोष उत्पन्न हो। ऐसे परिग्रह को यदि रखे तो भी बहुत थोड़ा रखे। इन लक्षणों से विपरीत परिग्रह न लें।

**समीक्षा-पूर्वोक्त 222 नं. गाथा में आचार्यश्री ने उपकरणों का स्वरूप एवं श्रमण द्वारा ग्रहणीय है यह बताया था परन्तु इस गाथा में यह बताया है कि ग्रहण करने योग्य उपकरण को भी अधिक (अनावश्यक) ग्रहण नहीं करना चाहिए और उसमें भी मूर्च्छा ममत्व नहीं रखना चाहिए क्योंकि यह मूर्च्छा ममत्व ही बंध के लिए कारण है। जिस प्रकार रत्नत्रय की साधना शरीर की सुरक्षा के लिए आहार की आवश्यकता होती है इसलिये आगमानुकूल आहार ग्रहण करना विधेय है तथापि आहार में गृद्धता नहीं होना चाहिए। आवश्यकता से अधिक भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। भोजन ग्रहण करते हुए भी भोजन के दोष से रहित होना चाहिए। भोजन के निमित्त साधर्मि साधु के साथ या दाता के साथ ईर्ष्या-द्वेष, कलह, राग आदि नहीं करना चाहिए। जो भोजन को लेकर भी किसी प्रकार राग-द्वेष प्रवृत्ति करता है वह श्रमण दोष का भागी है यथा-**

**धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊणः भुंजदे पिंड।**

**अवरुपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो।। (13)** अष्टपाहुड पृ. 688

जो आहार के निमित्त दौड़ता है, कलह कर भोजन को ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरे से ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।



गिण्हदिं अदत्तदाणं परिणंदा वि य परोक्खदूसेहिं।

जिणालिंणं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो।। (14)

जो मनुष्य जिन लिंग को धारण करता हुआ भी बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करता है तथा परोक्ष में दूषण लगा-लगाकर दूसरे की निन्दा करता है वह चोर के समान है, साधु नहीं है।

इसी प्रकार ज्ञान उपकरण शौच उपकरण और संयम उपकरण के लिए भी जानना चाहिए। जिस प्रकार आहार आगमोक्त शुद्ध श्रावक द्वारा स्वेच्छा से होना चाहिए उसी से प्रकार पिच्छी आदि में भी जानना चाहिए। आहारादि ग्रहण में उद्गमादि दोष यथायोग्य नहीं होना चाहिए। मूलाचार में कहा भी है-

उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजणं पमाणं च।

इंगाल धूम कारण अट्टविहा पिण्डसुद्धी तु।। (421) मूलाचार भाग 1

उद्गम उत्पादन, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण इस तरह पिंडशुद्धि आठ प्रकार की है।

दाता में होने वाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उद्गच्छति उत्पन्न होता है- वह उद्गम दोष है और पात्र में होने वाले जिन अभिप्रायों से आहार आदि उत्पन्न होता है या कराया जाता है वह उत्पादन दोष है। जिन पारिवेशक-परोसने वालों से भोजन किया जाता है उनकी अशुद्धियाँ अशनदोष कहलाती हैं। जो मिलाया जाता है अथवा किसी वस्तु का मिलाना मात्र ही संयोजना दोष है, प्रमाण का उल्लंघन करना प्रमाण दोष है। जो अंगारों के समान है वह अंगार दोष है। जो धूम के समान है वह धूम दोष है और जो कारण निमित्त से होता है वह कारण दोष है। इस गाथा में संपूर्ण शुद्धियों का संग्रह हो जाता है।

पिच्छी आदि उपकरण का ग्रहण यथायोग्य आहार ग्रहण के समान निर्दोष होने के कारण पिच्छी के लिए रुपये की बोली करके ग्रहण करना आगम विधि नहीं है क्योंकि आगम में बोली का कही विधान ही नहीं है और विशेष करके उपकरण तो उद्गम, उत्पादन, उद्दिष्ट, याचना आदि दोष से रहित होना चाहिए। श्रावक स्वेच्छा से उपकरण आदि दान में देता है न कि मण्डी में जिस प्रकार नीलामी होती है उसी प्रकार उपकरण की नीलामी करके साधु को देने का विधान है। यह तो दीपक के नीचे अंधेरा है। त्यागियों के लिए संयम उपकरण भी नीलामी करके देना और त्यागियों का भी उसे

स्वीकार करना पूर्ण आगम विरुद्ध है। भगवती आराधना में कहा गया है कि जो साधु होकर याचना करता है मानो वह चक्रवर्ती होकर भीख माँगता है। वर्तमान समय में जो आगम विरुद्ध परंपरा चल रही है उसे साधु एवं श्रावकों को शीघ्रातिशीघ्र त्याग करना चाहिए नहीं तो त्याग के जगह में संग्रह, धर्म के स्थान में धन, धर्मात्मा के स्थान में धनी का महत्त्व बढ़ता जायेगा और जैन धर्म जो त्याग एवं अपरिग्रह प्रधान है वह संग्रह एवं परिग्रह प्रधान बन जायेगा।

### उपकरण में भी ममत्व त्यजनीय

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।

उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि।। (215) प्र.सा.

A Sramana does not entertain attachment either for food or for fast, either for residence or for touring or for paraphernalia, or for co-monks, or for unhealthy gossip.

आगमविरुद्धाहारविहारादिषु तावत्पूर्वमेव निषिद्धः योग्याहारविहारादिष्वपि ममत्वं न कर्तव्यमिति।।

आगे कहते हैं कि प्रासुक आहार आदि में भी जो ममत्व है वह मुनिपद के भंग का कारण है इसीलिये आहारादि में भी ममत्व न करना चाहिए-

साधु (भत्ते) भोजन में (वा) अथवा (खमणे) उपवास करने में (वा आवसधे) अथवा वस्तिका में (वा विहारे) विहार करने में, (वा उवधिम्हि) अथवा शरीर मात्र परिग्रह में (वा समणम्हि) अथवा मुनियों में (पुणो विकधम्हि) या विकथाओं में (णिबद्धं) ममता रूप संबंध को (णेच्छदि) नहीं चाहता है।

साधु महाराज शुद्धात्मा की भावना के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु से प्रासुक आहार लेते हैं सो भक्त हैं, इन्द्रियों के अभिमान का विनाश करने के प्रयोजन से तथा निर्विकल्प समाधि में प्राप्त होने के लिए उपवास करते हैं सो क्षपण हैं, परमात्म तत्त्व की प्राप्ति के लिए सहकारी कारण पर्वत की गुफा आदि बसने का स्थान सो आवसथ है, शुद्धात्मा की भावना के सहकारी कारण आहार-निहार आदिक व्यवहार के लिए व देशान्तर के लिए विहार करना सो विहार है, शुद्धात्मा की भावना के सहकारी कारण रूप शरीर को धारण करना व ज्ञान का उपकरण शास्त्र, शौचोपकरण कमंडलु, दया का उपकरण पिच्छिका इनमें ममता भाव सो उपधि है, परमात्म पदार्थ के विचार में सहकारी कारण समता और शील के समूह तपोधन सो श्रमण है, परम

समाधि के घातक श्रृंगार वीर व राग-द्वेषादि कथा करना सो विकथा है।

इन भक्त, क्षपण, आवसथ, विहार, उपधि, श्रमण तथा विकथाओं में साधु महाराज अपना ममता भाव नहीं रखते हैं। भाव यह है कि आगम से विरुद्ध आहार-विहार आदि में वर्तने का तो पहले ही निषेध है अतः अब साधु की अवस्था में योग्य आहार-विहार आदि में भी साधु को ममता न करनी चाहिए।

**समीक्षा**-जो रत्नत्रय की साधना के लिए उपकारक हो उसे उपकरण कहते हैं। जब तक केवलज्ञान नहीं होता है तब तक शरीर के लिए भोजन, शौच के लिए कमंडल आदि की आवश्यकता पड़ती है इसके साथ-साथ संघ में अन्य सहधर्मी श्रमण भी रहते हैं। इनसे यथायोग्य सहायता प्राप्त करनी चाहिए परन्तु उनके प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए। जिस प्रकार भोजन बनाने के लिए आग का उपयोग करना चाहिए पर उसे उपकारी मानकर सिर पर नहीं रखना चाहिए। पानी उपकारी है, उसका यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए परन्तु पानी में डूबकर नहीं मरना चाहिए। इसी प्रकार साधनोपयोगी सामग्रियों का ग्रहण, संरक्षण और प्रयोग करना चाहिए परन्तु उसके पीछे मोह ममत्व नहीं करना चाहिए क्योंकि यह मोह ममत्व ही बंध के लिए कारण है। आचार्य ने यहाँ तक कहा कि अंत में पंच परमेष्ठी का भी राग त्यजनीय है। जब पंचपरमेष्ठी का राग भी त्यजनीय है तो अन्य बाह्य वस्तु का ममत्व तो त्यजनीय ही है। मोक्ष के प्रति भी जब तक राग है तब तक मोक्ष नहीं मिलता है तो अन्य वस्तुओं में राग होने पर मोक्ष कैसे मिल सकता है। इसलिए मुमुक्षु को समस्त मोह कषायों का त्याग करना चाहिए। विकथा तो किसी भी परिस्थिति में करने योग्य है ही नहीं। जिस कारण से मोह, ममत्व को उद्दीपना मिलती है वैसे संपूर्ण कार्यों का त्याग करना चाहिए। परमात्म प्रकाश में कहा भी है-

**जेण कसाय हवंति मणि सो जिय मिल्हहि मोहु।**

**मोह कसाय-विवज्जयउ पर पावहि सम-बोहु।। (42) प.प्र.पृ. 162**

हे जीव! जिस मोह से अथवा मोह के उत्पन्न करने वाली वस्तु से मन में कषाय होवे, उस मोह को अथवा मोह निमित्तक पदार्थ को छोड़ फिर मोह को छोड़ने से मोह कषाय रहित हुआ तू नियम से राग-द्वेष रहित ज्ञान को पावेगा।

अंतरंग-बाह्य परिग्रह के ऊपर अथवा शास्त्र के ऊपर वह परम तपस्वी राग और द्वेष नहीं करता है जिस मुनि ने आत्मा का स्वभाव ग्रंथ से जुदा जान लिया है।

महामुनि पाँच इन्द्रियों के स्पर्शादि विषयों पर राग और द्वेष नहीं करता अर्थात् मनोज्ञ विषयों पर राग नहीं करता और अनिष्ट विषयों पर द्वेष नहीं करता, क्योंकि जिसने अपना स्वभाव विषयों से जुदा समझ लिया है। इसलिये वीतराग दशा धारण कर ली।

महामुनि मनुष्यादि शरीर के ऊपर भी राग और द्वेष को नहीं करता अर्थात् शुभ शरीर से राग नहीं करता, अशुभ शरीर से द्वेष नहीं करता, जिसने निज स्वभाव देह से भिन्न जान लिया है। देह तो जड़ है, आत्मा चैतन्य है, जड़ चैतन्य का क्या संबंध है?

### धर्मच्युति (छेद) का स्वरूप

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंक्रमादीसु।

समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा।। (216) प्र.सा.

Careless activities of a monk when sleeping, sitting, standing and walking, are always known as continuous harm into living beings.

आगे कहते हैं कि छेद या भंग शुद्धात्मा की भावना का विरोध करने वाला है— (वा) अथवा (समणस्स) साधु की (सयणासणठाण चंक्रमादीसु) शयन, आसन, खड़ा होना, चलना, स्वाध्याय, तपश्चरण आदि कार्यों में (अपयत्ता चरिया) प्रयत्नरहित चेष्टा अर्थात् कषायरहित-स्वसंवेदनज्ञान से छूटकर जीवदया की रक्षा से रहित संक्लेश-भाव-सहित जो व्यवहार का वर्तना है (सा) वह (सव्वकालं) सर्वकाल में (संतति हिंसा) निरंतर होने वाली हिंसा अर्थात् वर्तना शुद्धोपयोग लक्षणमई मुनिपद को छेद करने वाली हिंसा (मदा) मानी गई है यहाँ यह अर्थ है कि बाहरी व्यापार रूप शत्रुओं को तो पहले ही मुनियों ने त्याग दिया था परन्तु बैठना, चलना, सोना आदि व्यापार का त्याग हो नहीं सकता-इसलिए इनके निमित्त से अंतरंग में क्रोध आदि शत्रुओं की तो उत्पत्ति न हो-साधु को उन कार्यों में सावधानी रखनी चाहिए परिणाम में संक्लेश न करना चाहिए।

**समीक्षा**-मुमुक्षु सर्व सावद्य को त्याग कर समता को ग्रहण करता है परन्तु संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के उदय से या प्रमादवशतः समता से कुछ विचलित हो जाता है वही छेद है और यह प्रमाद उठने में, बैठने में, चलने में हो सकता है। इसीलिये श्रमण को हर समय सतर्क, प्रबुद्ध रहना चाहिये जिससे समता में

दोष न लगे, छेद न होवे। गौतम गणधर देव ने तीर्थंकर परमदेव से प्रश्न किये थे कि-  
**कथं चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथं सये।**

**कथं भुंजेज्ज भासिज्ज कथं पावं ण वज्झदि।। (1014)** मू.भाग 2 पृ. 171  
हे भगवन्! कैसा आचरण करे, कैसे ठहरे, कैसे बैठे, कैसे सोवे, कैसे भोजन करे एवं किस प्रकार बोले कि जिससे पाप से नहीं बँधे।

**जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।**

**जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई।। (1015)**  
यत्नपूर्वक गमन करे, यत्नपूर्वक खड़ा हो, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोवे, यत्नपूर्वक आहार करे और यत्नपूर्वक बोले, इस तरह करने से पाप का बंध नहीं होगा।

**जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।**

**णवं ण बज्झदे कम्मं पोरणं च विधूयदि।। (1016)**  
यत्नपूर्वक चलते हुए दया से जीवों को देखने वाले साधु के नूतन कर्म नहीं बँधते हैं और पुराने कर्म झड़ जाते हैं।

### निश्चय हिंसा का स्वरूप

**मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।**

**पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स।। (217)** प्र.सा.

Let the being die or not, harm unto living beings is certain (to occur) in the case of him who is careless in conduct; there is no bondage for him, who is mindful of the items of carefulness, by mere (physical) harm.

आगे हिंसा के दो भेद हैं अंतरंग हिंसा और बहिरंग हिंसा। इसलिये छेद या भंग भी दो प्रकार के हैं ऐसा व्याख्यान करते हैं-

(जीवो मरदु व जियदु) जीव मरो या जीता रहो (अयदाचारस्स) जो यत्नपूर्वक आचरण से रहित है उसके (णिच्छिदा हिंसा) निश्चय हिंसा है (समिदस्स) समितियों में (पयदस्स) जो प्रयत्नवान् है उसके (हिंसामेत्तेण) द्रव्य प्राणों की हिंसा मात्र से (बंधो णत्थि) बंध नहीं होता है। बाह्य में दूसरे जीव का मरण हो या मरण न हो जब कोई निर्विकार स्वसंवेदन रूप प्रयत्न से रहित है तब उसके निश्चय शुद्धचैतन्य प्राण का घात होने से निश्चय हिंसा होती है। जो कोई भले प्रकार अपने शुद्धात्म स्वभाव में लीन है, अर्थात् निश्चय समिति को पाल रहा है तथा व्यवहार में ईर्या, भाषा, एषणा, आदान

निक्षेपण, प्रतिष्ठापना इन पाँच समितियों में सावधान है, अंतरंग-बहिरंग प्रयत्नवान् है, प्रमादी नहीं है उसके बंध नहीं होता है। यहाँ यह भाव है कि अपने आत्म स्वभावरूप निश्चयप्राण का विनाश करने वाली रागादि परिणति निश्चय हिंसा कही जाती है। रागादिक उत्पन्न करने के लिए बाहरी निमित्त रूप जो परजीव का घात है सो व्यवहार हिंसा है, ऐसे दो प्रकार हिंसा जाननी चाहिए, किन्तु विशेष यह कि बाहरी हिंसा हो, वा न हो जब आत्मस्वभाव रूप निश्चय प्राण का घात होगा तब निश्चय हिंसा ही मुख्य है।

**उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिगमत्थाए।**

**आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्जं तं जोगमोसेज्ज॥ (217-1)**

**ण हि तस्स तण्णिमित्ते बंधो सुहुमो य देसिदो समये।**

**मुच्छापरिग्गहोच्चिय अज्झप्पयमाणदो दिट्ठो॥ (217)**

आगे इसी ही अर्थ को दृष्टांत से दृढ़ करते हैं-

(इरियासमिदस्स) ईर्या समिति से चलने वाले मुनि के (णिगमत्थाए) किसी स्थान से जाते हुए (उच्चालियम्हि पाए) अपने पग को उठाते हुए (तं जोगमासेज्ज) उस पग के संघट्टन के निमित्त से (कुलिंग) कोई छोटा जंतु (आबाधेज्ज) वाधा को पावे (मरिज्ज) वा मर जावे (तस्स) उस साधु के (तण्णिमित्तो सुहुमो य बंधो) इस क्रिया के निमित्त से जरासा भी कर्म का बंध (समये) आगम में (णहि देसिदो) नहीं कहा गया है। जैसे (मुच्छापरिग्गहोच्चिय) मूर्छा को परिग्रह कहते हैं सो (अज्झप्पयमाणदो दिट्ठो) अंतरंग भाव के अनुसार मूर्च्छा देखी गई है।

मूर्च्छारूप रागादि परिणामों के अनुसार परिग्रह होता है, बाहरी परिग्रह के अनुसार परिग्रह नहीं होता है तैसे यहाँ सूक्ष्म जंतु के घात होने पर जितने अंश में अपने स्वभाव से चलनरूप रागादि परिणति रूप भाव हिंसा है उतने ही अंश में बंध होगा, केवल पग के संघट्टन से मरते हुए जीव के उस तपोधन के रागादि परिणतिरूप भाव हिंसा नहीं होती है, इसलिये बंध भी नहीं होता है।

अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है, परप्राणों का विच्छेद बहिरंग छेद हैं। इनमें से अंतरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंग छेद नहीं, क्योंकि परप्राणों के विच्छेद का सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता ऐसे अयत्नाचार आचरण से प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोग का सद्भाव जिसके पाया जाता है उसे हिंसा के सद्भाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है और इस प्रकार जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है ऐसे

यत्नाचार से प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोग का असद्भाव जिसके पाया जाता है। उसके परप्राणों के विच्छेद के सद्भाव में भी बंध की अप्रसिद्धि है, अतः हिंसा के अभाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है। अंतरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंग छेद नहीं, ऐसा होने पर भी बहिरंग छेद अंतरंग छेद का आयतन मात्र है इसलिये उस बहिरंग छेद को स्वीकार तो करना ही चाहिए, अर्थात् उसे मानना ही चाहिए।

## “उपकरणों के सुप्रयोग एवं कुप्रयोग”

(सुप्रयोग से विकास तो कुप्रयोग से विनाश)

(राग : यमुना किनारे श्याम....., सावन का महीना.....)

उपकरणों से उपकार किया ही करो...स्व-पर-विश्व का सहयोग भी करो।

इनका दुरूपयोग कभी न करो...स्व-पर का अहित किया न करो।।

इनका आविष्कार हुआ कर्मभूमि में...अरबों वर्ष पहले आदि काल में।

प्राकृतिक होते थे पूर्व भोगभूमि में...कल्पवृक्ष प्रदत्त थे उसी काल में।।

आत्मरक्षा नदीपार आदि के लिये...दण्ड नौकादि निर्माण हुए आर्यों के लिये।

असिमसिकृषिवाणिज्यशिल्प के लिये...उपकरण बनाये गये आर्यजनों के लिये।।

चौदह कुलंकर तथा ऋषभदेव के द्वारा...आविष्कार किये गये स्वज्ञान के द्वारा।

गृह व गृहोपकरण अलंकार यानादि...आविष्कार हुए थे कर्मभूमि के आदि।।

अस्त्र-शस्त्र रथ ब्रह्मास्त्र पुष्पक विमान...निर्माण हुए थे शल्य क्रिया उपकरण।

उत्तरोत्तर उपकरण भी बढ़ते गये...वैज्ञानिक युग में और भी अधिक हुए।।

वाष्पचालित यंत्रों का हुआ निर्माण...विद्युत चालित पुनः बने उपकरण।

रेल बस कार तथा कल-कारखाना...हवाईजहाज रेडियो व सिनेमा।।

फ्रीज वॉशिंग मशीन कंप्यूटर मोबाईल...विविध गृहोपकरण व अन्तरीक्षयान।

इसी से बहुत कुछ लाभ हो रहे हैं...यातायात व संचार तीव्र हो रहे हैं।।

पृथ्वी तो एक ग्राम समान हो गई...सुख-सुविधा की भी बाढ़ आ गई।

बहुविध अपकार भी बढ़ रहे हैं...प्रकृति के बहुविध प्रदूषण भी हो रहे हैं।।

पृथ्वी का तापमान भी बढ़ रहा है...बहुविध प्रदूषण भी हो रहे हैं।

यंत्र चालित मानव तो हो रहे हैं...फैशनी-व्यसनी उत्श्रृंखल भी हो रहे हैं।।

परस्पर की दूरियाँ भी बढ़ रही हैं...प्राकृतिक आपदायें आ रही हैं।  
शारीरिक निष्क्रियता बढ़ रही है...मोटापा की समस्यायें बढ़ रही हैं।

मधुमेह हृदयाघात रक्तचाप कैसर...मानसिक रोग बढ़ रहे अनेक प्रकार।  
यातायात में दुर्घटनायें बढ़ रही हैं...लाखों की अकाल मृत्यु हो रही है।  
मानसिक शान्ति भी घट रही है...मानवीय समस्यायें बढ़ रही हैं।  
उपकरण भी भस्मासुर बन रहे हैं...विकास भी विनाश बन रहे हैं।

आध्यात्मिक से विनाश रुक जायेगा...'कनक' का विचार सफल होगा।  
अपरिग्रह सिद्धान्त का पालन करो...विश्वशान्ति के लिये प्रयास करो।

धार्मिक एवं वैज्ञानिक शोधपूर्ण कविता

(परिग्रह में अनेक पाप गर्भित : उदाहरण सह)

“खनिज उत्पादक : अनेक पाप उत्पादक”

(खान से प्राप्त तेल, गैस, सोनादि धातु, पत्थर महान् हिंसाकारक प्रदूषणकारी-भूकम्प कारक)

(राग : यमुना किनारे श्याम....., रघुपति राघव.....)

पापों की खानी होते हैं खनिज द्रव्य, हिंसक प्रदूषक महँगा भूकम्पकर।  
अधिक गहराई से जो निकले द्रव्य, अधिक हिंसादि कारक होते वे द्रव्य।।

तेल गैस सोनादि धातु तथा मार्बल, त्रस स्थावर हिंसकादि भूकम्पकर।  
मीटरों से मील तक खुदाई होती, असंख्य त्रस स्थावरों की हिंसा होती।।

जल वायु मृदा प्रदूषण भी होते, प्रदूषण शब्द अपशिष्ट भी होते।

भू-जलस्तर नीचे जाता परिवर्तन भी होता, खेती वन-उपवन विनष्ट होते।। (1)

निवास पशु-पक्षियों का विनष्ट होता, उनके योग्य भोजन नहीं मिलता।

पशु-पक्षी भी इसलिये विनष्ट होते, पर्यावरण संतुलन भी बिगड़ जाता।।

तेलादि कच्चा माल ट्रांसपोर्ट संस्करण से, ये सब समस्याएँ और भी अधिक हो।  
संस्करण के बाद पुनः परिवहन में, पैकिंग किप-अफ डाउनलोड में।। (2)

उपकरण निर्माणादि ट्रांसपोर्टादि में, समस्याएँ उत्पन्न यथायोग्य होती।

दमा श्वास कैसर टी.बी. रोगादि होते, तन-मन आत्मा अस्वस्थ होते।।



इससे अन्य समस्याएँ उत्पन्न होती, समस्या की श्रृंखलाएँ खूब बढ़ती।  
जिससे ग्लोबल वार्मिंग खूब बढ़ता, वर्षा प्रभावित होती भूकम्प आता।। (3)

सुनामी कहर रूपी प्रलय आता, प्राकृतिक शोषण का बदला लेता।  
वैज्ञानिक शोधों से यह सिद्ध हो रहा, मेरे ग्रंथों में मैंने वर्णन किया।।

इन वस्तु से (प्रति) क्रोध मान भी होते, मोह माया लोभ संयुक्त होते।  
झूठ चोरी मिलावट शोषण होते, भय संक्लेश व युद्धदि होते।। (4)

बह्मरंभी परिग्रही को नारकी कहा, आरंभ उद्योग को हिंसा भी कहा।  
परिग्रह को वीर ने हिंसा ही कहा, अपरिग्रह को अणु-महा भी कहा।।

अणुरूप से गृहस्थ पालन करे, महाव्रतरूप में साधु भी पालो।  
संतोषमय सादा जीवन जीये, दूसरों को जीने दे स्वयं भी जिये।। (5)

परस्परपेग्रहो सह अस्तित्व पाले, वसुधैव कुटुम्ब का सिद्धांत पाले।  
केवल भौतिकता दुःख कारक होता, क्रिया की प्रतिक्रिया सिद्धांत होता।।

सर्वोदय हेतु आत्मविकास करो, 'कनक' का आशीष सत्य शांति को पालो।  
यह है धार्मिक-वैज्ञानिक सिद्धांत, इसी से ही मिलेगा पूर्ण विकास।। (6)

सोना को मानव माने उत्तम धातु, बहुमूल्य गुणकारी दुर्लभ वस्तु।  
उपरोक्त सभी दोष होते इसी से, और भी कुछ दोष होते इसी से।।

बीस टन (20) चट्टान की खुदाई द्वारा, अंगूठी जितना सोना मिले खान से।  
जिससे साइनाइट विष फैले पृथ्वी में, राग-द्वेष-मोह होते सोना से।। (7)

## लोभी की आत्मकथा

(तर्ज : सुनो-सुनो ऐ दुनिया वालों.....)

सुनो-सुनो ऐ दुनिया वालों, मेरी ही है निज कहानी।

धन निमित्ते मैं क्या करूँ, मैं क्या सोचूँ सच्ची कहानी।। सुनो-सुनो...।।धत्ता।।

सबसे प्यारा पैसा हमारा, जीवन जीने का लक्ष्य है सारा।

पढ़ाई करूँ नौकरी करूँ, इसके लिए ही सब कुछ वारा।। सुनो-सुनो...(1)

मंदिर जाऊँ पूजा रचाऊँ, भगवन् से इसको ही माँगू।

व्यापार कर शोषण करूँ, पैसा हेतु ठगी भी करूँ।। सुनो-सुनो...(2)

भ्रष्टाचार व आतंकवाद, जमाखोरी व वाद-विवाद।

लोकतंत्र समाजवाद, तानाशाही व राष्ट्रीयवाद। सुनो-सुनो...(3)

उपनिवेश व समुद्रयात्रा, कला कृषि व विदेशयात्रा।

जूआँ भी खेलूँ युद्ध भी करूँ, लूटपाट व चोरी भी करूँ। सुनो-सुनो...(4)

न्याय अन्याय सब कुछ करूँ, यथा तथा भी जो कार्य करूँ।

धन निमित्ते धर्म करूँ मैं, परमार्थ भी अर्थ से करूँ। सुनो-सुनो...(5)

व्रत उपवास नियम भी पालूँ, भाषण लेखन सेवा करूँ मैं।

दान पुण्य व त्याग करूँ मैं, पंचकल्याणक विधान करूँ मैं। सुनो-सुनो...(6)

मुझे न चाह स्वर्ग और मोक्ष, मैं चाहूँ सदा अर्थ ही अर्थ।

पैसा ही मेरा परमेश्वर है, अर्थ से मिले सर्व संसार। सुनो-सुनो...(7)

धन ही मेरा ध्यान व ध्येय, सर्व कार्य के प्रमुख ध्येय।

इसे मैं पूजूँ इसे ही भजूँ, मम सर्वस्व इसे ही मानूँ। सुनो-सुनो...(8)

दोहा- सर्व गुणा कांचनमाश्रयन्त, मेरा है यह सिद्धांत।

अर्थ-अनर्थ का कारण है, मानूँ मैं इसे नितांत।

## “लोभी कुत्ता एवं रोटी”

(लोभ से हानि)

(राग : सुनो-सुनो हे दुनिया वालों.....)

सुनो-सुनो हे प्यारे बच्चों!...लोभी कुत्ता की दुःखद कहानी।

तुम्हें भी इससे मिलेगी शिक्षा...लोभ से स्व की करने की रक्षा।।

एक बार एक लोभी कुत्ता को...कहाँ से मिल गई एक रोटी।

उसे खाने हेतु विचारने लगा...एकांत स्थान में खाऊँगा रोटी।। (1)

इसी हेतु वह पार कर रहा था...पुल के द्वारा एक नदी को।

नदी के पानी में वह देखता है...रोटी लिये हुए एक कुत्ता को।।

उसका लोभ तीव्र हो गया...प्राप्त करने हेतु उस रोटी को।

रोटी प्राप्त हेतु नदी में कूदता...मुँह खोला प्राप्त करने रोटी को।। (2)

जिससे अपनी रोटी भी खोता...स्व प्रतिबिम्ब भी गायब हुआ।

लोभी कुत्ता तो दुःखी हो जाता...स्व-रोटी को भी नहीं खा पाता।।

इसी से मुझे शिक्षा मिलती...संतोषी होने की शिक्षा मिलती।

लोभ त्याग से शुचिता आती...‘कनकनन्दी’ को शुचिता भाती।। (3)

## “बड़ी तृष्णाओं का अंतिम फल असफलता”

(तर्ज : यमुना किनारे.....)

बड़ी-बड़ी तृष्णाएँ पाला न करो, विफलता का फल खाया न करो/

(कटुक फल तुम खाया न करो)।

तृष्णा तृषा कभी शांत होती ही नहीं, भौतिकता सिंधु को पीओ भी सही।

समुद्र का पानी जब पिया जाता है, तृषा की वृद्धि अति होती जाती है।। तृष्णा...

तृष्णा रूपी गड्ढा का राज ही यही है, जितना भरो उतना होता है खाली।

जितना खाली करोगे भरेगा सही, संपूर्ण खाली से पूर्ण भरेगा सही।

इसी रहस्य को जाने आध्यात्मज्ञानी, इसी से परम सुखी आत्मिक ज्ञानी।। बड़ी...

तृष्णा अग्नि शांत नहीं तृष्णा पूर्ति से, अग्नि न शांत होती घृत पूर्ति से।

तृष्णा की अग्नि उसे जला देती है, ज्यों इसमें घृत डाला जाता है।

मृग मरीचिका से प्यास बिना बुझाये, मृग की मृत्यु होती जो पीछे जाये।। बड़ी...

सीता की तृष्णा से मरा राजा रावण, राज्य की तृष्णा से मरे कौरव गण।

कृष्णवध की तृष्णा से मरा है कंस, प्रतिहिंसा से भी मरा जरासंध।

सिकंदर मरा राज्य प्राप्ति तृष्णा से, हिटलर मरा विश्वयुद्ध तृष्णा से।। बड़ी...

जो तृष्णा का दास बना हुआ है नाश, जो तृष्णा को दास बना, बना संतोष।

संतोषी सदा सुखी होता है, तृष्णा का दास सदा दुःखी होता है।

तीर्थंकर बुद्ध साधु-संन्यासी जन, तृष्णा त्याग से बने आनंदघन।। बड़ी...

तृष्णा से अतृप्ति उत्पन्न सदा होती, असंतोष वृत्ति भी उससे होती।

इससे है दाहकता उत्पन्न होती, जिससे भौतिक प्यास उद्दीप्त होती।

इसकी शांति हेतु होती अनीति, जिससे जीव की दुर्गति होती।। बड़ी...

आत्मिक तृप्ति से होती तृष्णा शांति, जिससे जीव को मिले आत्मिक शांति।

आत्मिक शांति से होती सर्व निवृत्ति, अन्याय-अत्याचार शोषण वृत्ति।

“कनकनन्दी” चाहे आत्मिक शांति, प्रत्येक जीव को मिले आत्मिक शांति।। बड़ी...

## विपरीत ज्ञान से विपरीत मान्यता

(तर्ज : म्हारी माँ जिनवाणी.....)

हे विपरीत ज्ञानी! विपरीत मान्यता तेरी 55...

सत्य को असत्य, असत्य को सत्य, माने है कुबुद्धि तेरी...2

अमूल्य को मूल्य, मूल्य को अमूल्य, बहुमूल्य को माने कोरी...2

हे विपरीत ज्ञानी!...(टेक)

मृगमरीचिका सम असत्य में भी, मान्यता तुमरी भारी...2

कस्तूरी मृग सम स्वनाभि कस्तूरी, बाहर ढूँढता कोरी...2...हे विपरीत...(1)

सोना चाँदी व मणि माणिक्य को, बहुमूल्य मान्यता तेरी...2

मिट्टी वायु व पानी के बिना, क्या काम आवे तेरे...2...हे विपरीत...(2)

सत्ता संपत्ति प्रसिद्धि बुद्धि को, बहुमूल्य मान्यता तेरी...2

सदाचार व शांति के बिना, ये क्या काम आवे तेरी...2...हे विपरीत...(3)

पढ़ाई डिग्री व नौकरी धन में, महत भाव है तेरा...2

संस्कार विवेक स्वास्थ्य कुटुम्ब बिना, इसका महत्व है कोरा...2...हे विपरीत...(4)

धन जन तन अभिमान में, स्वरूप भाव है तेरा...2

आत्मश्रद्धान आत्मज्ञान बिन, इनका महत्व है कोरा...2...हे विपरीत...(5)

धार्मिक पंथ ग्रंथ पर्व में, आग्रह भाव है तेरा...2

शुचिता समता सत्यनिष्ठा बिन, महत्त्व शून्य है सारा...2...हे विपरीत...(6)

भोग-उपभोग वैभव को तू, सुख है मानता सारा...2

ज्ञानानंद आत्म वैभव समक्ष, तुच्छ है ये सुख सारा...2...हे विपरीत...(7)

संसार वर्द्धक धन जन को तू, मानता सबसे प्यारा...2

आत्म संवर्धक गुरु ज्ञान तो, अनावश्यक सदा तेरा...2...हे विपरीत...(8)

प्रतिकूल त्यागो अनुकूल चलो, पाओगे सत्य व शांति...2

‘कनकनन्दी’ तो भावना भाये, होये है विश्व में शांति...2...हे विपरीत...(9)

## मानव की उपलब्धियों का सदुपयोग

(तर्ज : वह शक्ति हमें दो.....)

वह शक्तिप्राप्त कर हे मानव। जिस शक्ति से अहं को मिटा सको।। (टेक)

अन्याय अत्याचारों से, स्वयं की रक्षा कर सको।

वह ज्योति जगालो हे मानव ! जिस ज्योति से अज्ञान मिटा सको।। (1)

मिथ्या परम्परा और नकलों से, स्वयं को तुम भी बचा सको।

वह शिक्षा प्राप्त कर हे मानव ! जिस शिक्षा से संस्कृति बचा सको।। (2)

असभ्य, अश्लील, फैशन से, स्वयं को तुम भी बचा सको।

वह विज्ञान प्राप्त कर हे मानव ! जिससे विवेकी तुम बन सको।। (3)

प्रकृति के शोषण किये बिना, तुम प्रकृति से लाभ उठा सको।

वह धर्म प्राप्त कर हे मानव ! जिससे उदार तुम बन सको।। (4)

विश्व को कुटुम्ब मानकर के, स्व पर का मंगल कर सको।

वह सत्ता प्राप्त कर हे मानव ! जिससे सेवक तुम बन सको।। (5)

राष्ट्र विश्व की सेवा से, शांति की स्थापना कर सको।

वह वैभव प्राप्त कर हे मानव ! जिससे तुम दानी बन सको।। (6)

दान से पुण्य लाभ करके, आत्म वैभव को प्राप्त करो।

वह गाना गा रे हे मानव ! जिस गाना से गरिमा बढ़ा सको।। (7)

“कनकनन्दी” कहे निज भारत का, फिर से गौरव भी बढ़ा सको।

वह नृत्य करो रे हे मानव ! जिस नृत्य से संस्कृति बना सको।। (8)

दोहा- कनकनन्दी के भाव है, मानव बने भगवान्।

मानव दानव न बने, करके स्व-अपमान।।

## लोभ से परिग्रह तथा विनाश

(लोभ पाप का बाप) (खनन एवं कारखाना से हानियाँ)

(राग : यमुना किनारे शाम.....)

जिया ! तुम लोभ पाप किया न करो, परिग्रह संचय किया न करो।

परिग्रह से संपूर्ण पाप होते हैं, दोहन-शोषण-प्रदूषण होते हैं।

आरंभ कषाय पंच पाप होते हैं, इह-परलोक दुःखमय होते हैं॥ध्रु॥

अंतरंग परिग्रह लोभादि होते, जिससे भाव हिंसा पाप भी होते।

परिग्रह हेतु जो आरंभ होते, उससे विविध जीवों के हनन होते।

जिससे परिस्थिति का विनाश होता, विविध/(विभिन्न) प्रदूषणों का जन्म भी होता॥ (1)

परिग्रह हेतु विविध खनन होते, कोयला गैस अभ्रक सोना के होते।

पेट्रोलियम लोहा तांबा चाँदी के होते, बॉक्साइट मार्बल/(पत्थर) सोपस्टोन के होते।

इसके परिष्कृत व वस्तु निर्माण हेतु, कारखाना बने दूषण उत्पन्न हेतु॥ (2)

असंख्य त्रस स्थावर जीव मरते, वायु मृदा जल प्रदूषण बढ़ते।

करोड़ों वृक्षों का भी हनन होता, करोड़ों मानवों का विस्थापन भी होता।

मिलों तक पृथ्वी का खनन होता, कृषि योग्य जमीन का विनाश होता॥ (3)

पानी का भी प्रयोग अधिक होता, पीने योग्य पानी नहीं मिलता।

कुआँ नदी जलाशय विनाश होते, जल प्रदूषण से जीव मरते।

कृषि उत्पादन भी कम हो जाता, जिससे खाद्य भाव खूब बढ़ता॥ (4)

इससे परिस्थिति का विनाश होता, पृथ्वी का तापमान खूब बढ़ता।

भूकम्प सुनामी रूद्र रूप धरते, ग्लेशियर पिघलते दुष्काल होते।

शारीरिक मानसिक रोग बढ़ते, शोषक-शोषित वर्ग जन्म भी लेते/

विभिन्न भ्रष्टाचार जन्म भी लेते॥ (5)

बेकारी बेरोजगारी-महँगाई बढ़ती, आर्थिक विषमता खूब बढ़ती।

सामाजिक समता विनष्ट होती, वर्ग संघर्ष समस्या उत्पन्न होती।

गृहयुद्ध महायुद्ध जन्म भी लेते, धन जन (व) साधन विनाश होते॥ (6)

इसलिये लोभ है पापों का बाप, तीर्थकरों ने कहा महान् पाप।

बुद्ध ने तृष्णा को दुःखों का हेतु कहा, समवितरण साम्यवाद ने कहा।

परिग्रह त्याग से मोक्ष मिलता, “कनकनन्दी” का लक्ष्य इसमें होता॥ (7)

## अनुपयोगी पत्थर को महत्व देती है : मानव जाति

(राग : सुनो-सुनो हे दुनिया वालों.....)

सुनो-सुनो हे! मानव जाति, तेरी जाति की मोह/(मूढ) कहानी।

अयोग्य तुच्छ हेय वस्तुओं को, महत्व देने की सच्ची कहानी।।...

सोना चाँदी हीरा मोती माणिक आदि न बहु उपयोगी।

ये सब भौतिक वस्तुएँ हैं, मिट्टी से नहीं बहु उपयोगी।।...

तथापि मिट्टी से भी अधिक, महत्व देती है तेरी प्रजाति।

इससे मिट्टी बहु उपयोगी, खेती से जीती तेरी प्रजाति।।...

मिट्टी से घर घड़ा बने, मिट्टी से होता रोगोपचार।

मिट्टी के बिना तेरी प्रजाति व, पशु पक्षी का नहीं संसार।।...

मिट्टी के बिना वृक्ष घास, लता खेती न होते संभव।

इसके बिना तेरा जीना भी, न हो पायेगा यहाँ संभव।।...

तथापि तुम सोना चाँदी को, दे रही हो अति महत्व।

उसके लिए खान खोदकर, नष्ट करूँ तू जीवन तत्त्व।।...

खान से लेकर परिवहन, संशोधन व निर्माण में।

क्रय-विक्रय प्रयोग तथा, संरक्षण व लेन-देन में।।...

हिंसा झूठ चोरी परिग्रह, मिलावट फैशन करती तू।

इसके कारण क्रोध मान माया, लोभ दगाबाजी करती तू।।...

इससे पुनः आक्रमण युद्ध, हत्या लूटपाट करती तू।

प्रकृति विकृति दोहन शोषण, विनाश हनन करती तू।।...

इससे पुनः प्रदूषण होते, जिससे ग्लोबल वार्मिंग बढ़े।

अतिवृष्टि अनावृष्टि बाढ़, अकाल व भूकम्प बढ़े।।...

सुनामी ग्लेशियर पिघलना, ओजोन परत में छेद भी पड़े।

अनेक रोगों में वृद्धि होती, जिससे अकाल मरण बढ़े।।...

पशु प्रजाति भी तुमसे श्रेष्ठ, जो न करती ऐसा काम।

मिट्टी से भी कम उपयोगी, पत्थर हेतु न करे कुकाम।।...

पत्थर को भी तुम्हारी जाति, संग्रह करके करती गर्व।

शरीर में भी लादकर के, सुंदरता का करती गर्व।।...

सोना चाँदी आदि बिना भी, तेरी प्रजाति समृद्ध होगी/(जीवित होगी)।

सुख शांति से प्रगति करेगी, उपरोक्त समस्याएँ कम होगी।।...  
 इसके लिए अपनाना होगा, सादा जीवन उच्च विचार।  
 अपरिग्रह व निर्लोभ भाव, विलासिताहीन साम्य विचार/(नैतिकाचार)।।...  
 सोना आदि के बिना भी सुखी, रहते निस्पृह साधु-साध्वी।  
 ब्रह्मचारिणी मदर टेरेसा की, नर्स तथाहि क्षुल्लक-क्षुल्लिका।।...  
 जिसने इसके मोह को त्यागा, आत्म वैभव का किया विकास।  
 मानव से महामानव बना, अंत में पाया है मोक्ष निवास।।...  
 भौतिक मोही तेरी प्रजाति को, 'कनकनन्दी' न मानता श्रेष्ठ।  
 भौतिक मोह को त्यागने वाले, महामानव को मानता ज्येष्ठ।।...

## पावन भावना बिन सत्तादि अनिष्टकारी

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छोटी-छोटी गैया.....)

- सत्ता संपत्ति प्रसिद्धि बुद्धि/(डिग्री) से ही, नहीं होता है महान् कार्य।  
 जब तक न होगा पावन भाव, इससे होता है जघन्य काम।। (1)
- अधिक सत्तादि से अधिक कुकर्म, न्यून सत्तादि से कम कुकर्म।  
 पावन भाव इससे भिन्न, अधिक से अधिक सुकर्म।। (2)
- रावण कंस हिटलर मुसोलिन, सत्तादि से हुए सम्पन्न।  
 पावन भावना के बिना उन्होंने, किया बहु निकृष्ट काम।। (3)
- तथाहि जो व्यक्ति जाति समाज, राजा राष्ट्र आदि या सरकार।  
 पवित्र भाव के बिना नहीं, कर पाते हैं अच्छा काम।। (4)
- ऐसे व्यक्ति आदि होते सफेद बक सम, या गोमुख व्याघ्र समान।  
 मीठा जहर या धीमा जहर सम, या किंपाक फल के समान।। (5)
- वे ही धर्म या ईश्वर राजनीति, जाति भाषादि के बहाना लेकर।  
 ईर्ष्या घृणा तृष्णा काम क्रोध या मदादि, वश से करते हैं वे नीच व्यवहार।। (6)
- आक्रमण युद्ध अन्याय अत्याचार, शोषण मिलावट या भ्रष्टाचार।  
 भेद-भाव पक्षपातादि करते, तथाहि आतंकवाद व व्यभिचार।। (7)



ये सब होते राक्षस नराधम, ये सब न होते हैं सभ्य मानव।

भले वे किसी भी धर्म जाति राष्ट्र, भाषा का मुखौटा पहने अधम॥ (8)

देश-विदेश के पुराण इतिहास, इनके द्वारा ही रक्त रंजित।

वर्तमान में भी हर क्षेत्र में, ऐसे लोगों से धरती संतस्त॥ (9)

स्व-पर अपकारी होते ऐसे जन, इह-परलोक में पाते अनेक त्रास।

पावन भाव व्यवहार करो मानव, 'कनकनन्दी' का तुम्हें शुभ आशीष॥ (10)

तीर्थकरों ने अतएव कहा, परिग्रह से मिले नरक।

समता व त्याग से मिलता मोक्ष, जो होता अनंत अक्षय सुख॥ (11)

हिरणमगरी, सेक्टर-11, दिनांक 26.01.2015, रात्रि 8.18

(विदेशी हिस्टोरी चैनल में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा भारत में किया गया कुकृत्य को देखकर दुःखी होकर इस कविता की रचना हुई।)

## अंतरंग दूषित भावों की अभिव्यक्ति सत्तादि द्वारा

(समस्त पापाचार एवं दुःखों के कारण अंतरंग दूषित भाव एवं सत्तादि है)

(प्रमत्त योग से होते हैं समस्त पाप एवं दुःख)

(राग : आत्मशक्ति से ओतप्रोत.....)

क्रोध मान माया लोभ व काम मोह की अभिव्यक्ति।

सत्ता संपत्ति कीर्ति भोग व अंध श्रद्धा द्वेष से होती॥

यथा बीज की अभिव्यक्ति वृक्ष फलादि से होती है।

तथा क्रोधादि की अभिव्यक्ति सत्तादि द्वारा होती है॥

बीज से वृक्षादि होने के हेतु जलादि कारण होते हैं।

क्रोधादि की अभिव्यक्ति के हेतु सत्तादि भी कारण होते हैं॥

यथा बीज के अभाव से जलादि से भी वृक्षादि न होते हैं।

तथा क्रोधादि के अभाव से सत्तादि भी हेतु न होते हैं॥

क्रोधादि के सद्भाव से ही हर क्षेत्र हर काम में।

सत्ता संपत्ति प्रसिद्धि आदि की कामना होती मन में॥

इसी हेतु शिक्षा व्यापार नौकरी राजनीति सेवा कानून।  
शिल्प कला संगीत धर्म का आलंबन लेते मोही जन।।

अशुद्ध सोना से मूर्ति बने या, अलंकार कुंभ या बर्तन।  
अशुद्धमय ही सब होंगे तथा क्रोधादि कृत कर्म।।

सत्तादि से लिप्त रहने वाले निश्चय से होंगे अशुद्धभावी।  
भले वे गृहस्थ सामान्य जन विद्वान् राजा साधु या ज्ञानी।।

क्रोधादि के सद्भाव से सत्तादि का होता सद्भाव।  
दोनों के जहाँ सद्भाव है पापाचार दुःखों का भी सद्भाव।।

इसी से ही अन्याय अत्याचार भ्रष्टाचार कामाचार युद्ध होते।  
मिलावट शोषण फैशन-व्यसन आतंकवाद हत्या चोरी होते।।

दोनों के सद्भाव जहाँ जितने-जितने अंश में जीव में होंगे।  
उतने-उतने अंश में वहाँ पापादि का प्रभाव अवश्य होंगे।।

रावण कंस हिटलर आदि से लेकर हर व्यक्ति हर क्षेत्र  
इसी के लिए है उदाहरण भूत से लेकर है अभी तक।।

इनसे निवृत्ति हेतु है आध्यात्म लक्ष्य सह ज्ञान व ध्यान।  
सरल सहज संतोष क्षमा धैर्य समता शील व त्याग दान।।

अतएव तीर्थंकर साधु संत गणधर बुद्ध ऋषि मुनि।

## परिग्रह का व्यापक-स्वरूप

### परिग्रह का स्वरूप

93-जंबू! इत्तो परिग्रहो पंचमो उ णियमा णाणामणि-कणग-रयण-  
महरिहपरिमलसपुत्तदार-परिजण-दासी-दास-भयग-पेस-हय-गय-गो-महिस-उट्ट-खर-  
अय-गवेलग-सीया-सगड-रह-जाण-जुग-संदण-सयणासण-वाहण-कुविय-धणधण-  
पाण-भोयणाच्छायण-गंध-मल्ल-भायण-भवणविहिं चेष बहु-विहीयं।

भरहं णग-णगर-णिगम-जणवय-पुरवर-दोणमुह-खेड-कब्बड-मडंब-संबाह-  
पट्टण-सहस्स-परिमंडियं।

थिमियमेइणीय एगच्छतं ससागरं भुंजिऊण वसुहं, अपरिमियमणंत-तण्ह-मणुगय-महिच्छसारणिरयमूलो, लोहकलिकसायमहक्खंधो, चिंतासयणिचियविउलसालो, गारवपविरल्लियग्गविडवो, णियडि-तयापत्तपल्लवधरो पुप्फफलं जस्स कामभोगा, आयासविसूरणा कलह-पकंपियग्गसिहरो।

गरवईसंपूइओ बहुजणस्स हिययदइओ इमस्स मोक्खवरमोत्तिमगास्स फलिहभूओ। चरिमं अहम्मदारं। (प्रश्न व्याकरण सूत्र)

93-श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान शिष्य जम्बू स्वामी से कहा-हे जम्बू! चौथे अब्रह्म नामक आस्रव द्वार के अनंतर यह पाँचवाँ परिग्रह (आस्रव) है। (इस परिग्रह का स्वरूप इस प्रकार है-)

अनेक मणियों, स्वर्ण, कर्केतन आदि रत्नों, बहुमूल्य सुगंधमय पदार्थ, पुत्र और पत्नी समेत परिवार, दासी-दास, भृतक-काम करने वाले नौकर-चाकर, प्रेष्य-किसी कार्य के लिए भेजने योग्य कर्मचारी, घोड़े, हाथी, गाय, भैंस, ऊंट, गधा, बकरा और गवेलक (एक विशिष्ट जाति के बकरे, भेड़ों), शिविका-पालकी, शकट-गाड़ी-छकड़ा, रथ, यान, युग्य-दो हाथ लंबी विशेष प्रकार की सवारी, स्यन्दन-क्रीडारथ, शयन, आसन, वाहन तथा कुप्य-घर के उपयोग में आने वाला विविध प्रकार का सामान, धन, धान्य-गेहूँ, चावल आदि, पेय पदार्थ, भोजन-भोज्य वस्तु, आच्छादन-पहनने-ओढ़ने के वस्त्र, गंध-कपूर आदि, माला-फूलों की माला, बर्तन-भांडे तथा भवन आदि के अनेक प्रकार के विधानों को (भोग लेने पर भी)-

और हजारों पर्वतों, नगरों (कर-रहित बस्तियों), निगमों (व्यापारप्रधान मंडियों), जनपदों (देशों या प्रदेशों), महानगरों, द्रोणमुखों (जलमार्ग और स्थलमार्ग से जुड़े नगरों), खेट (चारों ओर धूल के कोट वाली बस्तियों), कर्बटों-छोटे नगरों-कस्बों, मंडबों-जिनके आसपास अढ़ाई-अढ़ाई कोस तक बस्ती न हो ऐसी बस्तियों, संबाहों तथा पत्तनों-जहाँ नाना प्रदेशों से वस्तुएँ खरीदने के लिए लोग आते हैं अथवा जहाँ रत्नों आदि का विशेष रूप से व्यापार होता हो ऐसे बड़े नगरों से सुशोभित भरतक्षेत्र-भारतवर्ष को भोगकर भी अर्थात् संपूर्ण भारतवर्ष का आधिपत्य भोग लेने पर भी, तथा-

जहाँ के निवासी निर्भय निवास करते हैं ऐसी सागरपर्यंत पृथ्वी को एकछत्र-अखण्ड राज्य करके भोगने पर भी (परिग्रह से तृप्ति नहीं होती)।

(परिग्रह वृक्ष सरीखा है। उसका वर्णन इस प्रकार है-)

कभी और कहीं जिसका अंत नहीं आता ऐसी अपरिमित एवं अनंत तृष्णा रूप महती इच्छा ही अक्षय एवं अशुभ फल वाले इस वृक्ष के मूल हैं। लोभ, कलिकलह-लड़ाई-झगड़ा और क्रोधादि कषाय इसके महास्कंध हैं। चिन्ता, मानसिक संताप आदि की अधिकता से अथवा निरंतर उत्पन्न होने वाली सैकड़ों चिन्ताओं से यह विस्तीर्ण शाखाओं वाला है। ऋद्धि, रस और साता रूप गौरव ही इसके विस्तीर्ण शाखाग्र-शाखाओं के अग्र भाग हैं। निकृति-दूसरों को ठगने के लिए की जाने वाली वंचना-ठगाई या कपट ही इस वृक्ष के त्वचा-छाल, पत्र और पुष्प हैं। इनको यह धारण करने वाला है। काम-भोग ही इस वृक्ष के पुष्प और फल हैं। शारीरिक श्रम, मानसिक खेद और कलह ही इसका कम्पायमान अग्रशिखर-ऊपरी भाग है।

यह परिग्रह (रूप आस्रव-अधर्म) राजा-महाराजाओं द्वारा सम्मानित है, बहुत-अधिकांश लोगों को हृदय-वल्लभ-अत्यंत प्यारा है और मोक्ष के निर्लोभता रूप मार्ग के लिए अर्गला के समान है, अर्थात् मुक्ति का उपाय निर्लोभता-अकिंचनता-ममत्वहीनता है और परिग्रह उसका बाधक है।

यह अंतिम अधर्म द्वार है

**विवेचन**-चौथे अब्रह्म नामक आस्रव द्वार का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार ने परिग्रह नामक पाँचवें आस्रव द्वार का निरूपण किया है। जैनागमों में आस्रव द्वारों का सर्वत्र यही क्रम प्रचलित है। इसी क्रम का यहाँ अनुसरण किया गया है। अब्रह्म के साथ परिग्रह का संबंध बतलाते हुए श्री अभयदेव सूरी ने अपनी टीका में लिखा है-परिग्रह के होने पर ही अब्रह्म आस्रव होता है, अतएव अब्रह्म के अनंतर परिग्रह का निरूपण किया गया है।

सूत्रकार ने मूल पाठ में 'परिग्रहो पंचमो' कहकर इसे पाँचवाँ बतलाया है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि सूत्रक्रम की अपेक्षा से ही इसे पाँचवाँ कहा है किसी अन्य अपक्षो से नहीं।

सूत्र का आशय सुगम है। विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं है। भावार्थ इतना ही है कि नाना प्रकार की मणियों, रत्नों, स्वर्ण आदि मूल्यवान् अचेतन वस्तुओं का, हाथी, अश्व, दास-दासियों, नौकर-चाकरों आदि का, रथ-पालकी आदि सवारियों का, नग (पर्वत) नगर आदि से युक्त समुद्रपर्यंत संपूर्ण भरतक्षेत्र का, यहाँ तक कि

संपूर्ण पृथ्वी के अखण्ड साम्राज्य का उपभोग कर लेने पर भी मनुष्य की तृष्णा शांत नहीं होती है। 'जहा लाहो तहा लोहो' अर्थात् ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ अधिकाधिक बढ़ता जाता है। वस्तुतः लाभ लोभ का वर्धक है। अतएव परिग्रह की वृद्धि करके जो संतोष प्राप्त करना चाहते हैं, वे आग में घी होम कर उसे बुझाने का प्रयत्न करना चाहते हैं। यदि घृताहुति से अग्नि बुझ नहीं सकती, अधिकाधिक ही प्रज्वलित होती है तो परिग्रह की वृद्धि से संतुष्टि प्राप्त होना भी असंभव है। लोभ को शांत करने का एकमात्र उपाय है शौच-निर्लोभता-मुक्ति धर्म का आचरण। जो महामानव अपने मानस में संतोष वृत्ति को परिपुष्ट कर लेते हैं, तृष्णा-लोभ-लालसा से विरत हो जाते हैं, वे ही परिग्रह के पिशाच से मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

### परिग्रह के गुणनिष्पन्न नाम-

14-तस्स य णामाणि गोण्णाणि होति तीसं, तं जहा-1. परिग्रहो, 2. संचयो, 3. चयो, 4. उवचयो, 5. णिहाणं, 6. संभारो, 7. संकरो, 8. आयरो, 9. पिंडो, 10. दव्वसारो, 11. तहा महिच्छा, 12. पडिबंधो, 13. लोहप्पा, 14. महद्दी, 15. उवकरणं, 16. संरक्खणा य, 17. भारो, 18. संपाउप्पायओ, 19. कलिकरंडो, 20. पवित्थरो, 21. अणत्थो, 22. संथवो, 23. अगुत्ति, 24. आयासो, 25. अविओगो, 26. अमुत्ती, 27. तण्हा, 28. अणत्थओ, 29. आसत्ती, 30. असंतोसो त्तिवि य, तस्स एयाणि एवमाईणि णामधिज्जाणि होति तीसं।

94-उस परिग्रह नामक अधर्म के गुणनिष्पन्न अर्थात् उसके गुण-स्वरूप को प्रकट करने वाले तीस नाम हैं। वे नाम इस प्रकार हैं-

1. **परिग्रह**-शरीर, धन, धान्य आदि बाह्य पदार्थों को ममत्व भाव से ग्रहण करना।

2. **संचय**-किसी भी वस्तु को अधिक मात्रा में ग्रहण करना।

3. **चय**-वस्तुओं को जुटाना-एकत्र करना।

4. **उपचय**-प्राप्त पदार्थों की वृद्धि करना-बढ़ाते जाना।

5. **निधान**-धन को भूमि में गाड़कर रखना, तिजोरी में रखना या बैंक में जमा करवा कर रखना, दबाकर रख लेना।

6. **सम्भार**-धान्य आदि वस्तुओं को अधिक मात्रा में भरकर रखना। वस्त्र आदि को पेटियों में भरकर रखना।

7. **संकर**-संकर का सामान्य अर्थ है-भेल-सेल करना। यहाँ इसका विशेष अभिप्राय है-मूल्यवान् पदार्थों में अल्प मूल्य वस्तु मिलाकर रखना, जिससे कोई बहुमूल्य वस्तु को जल्दी जान न सके और ग्रहण न कर ले।

8. **आदर**-पर-पदार्थों में आदर बुद्धि रखना, शरीर, धन आदि को अत्यंत प्रीतिभाव से संभालना-संवारना आदि।

9. **पिण्ड**-किसी पदार्थ का या विभिन्न पदार्थों का ढेर करना, उन्हें लालच से प्रेरित होकर एकत्रित करना।

10. **द्रव्यसार**-द्रव्य अर्थात् धन को ही सारभूत समझना। धन को प्राणों से भी अधिक मानकर प्राणों को-जीवन को संकट में डालकर भी धन के लिए यत्नशील रहना।

11. **महेच्छा**-असीम इच्छा या असीम इच्छा का कारण।

12. **प्रतिबंध**-किसी पदार्थ के साथ बँध जाना, जकड़ जाना। जैसे भ्रमर सुगंध की लालच में कमल को भेदन करने की शक्ति होने पर भी भेद नहीं सकता, कोश में बंद हो जाता है (और कभी-कभी मृत्यु का ग्रास बन जाता है)। इसी प्रकार स्त्री, धन आदि के मोह में जकड़ जाना, उसे छोड़ना चाहकर भी छोड़ न पाना।

13. **लोभात्मा**-लोभ का स्वभाव, लोभरूप मनोवृत्ति।

14. **महद्विका (महर्धिका)**-महती आकांक्षा अथवा याचना।

15. **उपकरण**-जीवनोपयोगी साधन-सामग्री। वास्तविक आवश्यकता का विचार न करके ऊलजलूल-अनापसनाप साधन सामग्री एकत्र करना।

16. **संरक्षण**-प्राप्त पदार्थों का आसक्तिपूर्वक संरक्षण करना।

17. **भार**-परिग्रह जीवन के लिए भारभूत है, अतएव उसे भार नाम दिया गया है। परिग्रह के त्यागी महात्मा हल्के-लघुभूत होकर निश्चिन्त, निर्भय विचरते हैं।

18. **संपातोत्पादक**-नाना प्रकार के संकल्पों-विकल्पों का उत्पादक, अनेक अनर्थों एवं उपद्रवों का जनक।

19. **कलिकरण्ड**-कलह का पिटारा। परिग्रह कलह, युद्ध, वैर, विरोध, संघर्ष आदि का प्रमुख कारण है, अतएव इसे 'कलह का पिटारा' नाम दिया गया है।

20. **प्रविस्तर**-धन-धान्य आदि का विस्तार। व्यापार-धंधा आदि का फैलाव। यह सब परिग्रह का रूप है।

21. **अनर्थ**-परिग्रह नानाविध अनर्थों का प्रधान कारण है। परिग्रह-ममत्व बुद्धि से प्रेरित एवं तृष्णा और लोभ से ग्रस्त होकर मनुष्य सभी अनर्थों का पात्र बन जाता है। उसे भीषण यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं।

22. **संस्तव**-संस्तव का अर्थ है परिचय-बारंबार निकट का संबंध। संस्तव मोह को आसक्ति को बढ़ाता है। अतएव इसे संस्तव कहा गया है।

23. **अगुप्ति या अकीर्ति**-अपनी इच्छाओं या कामनाओं का गोपन न करना, उन पर नियंत्रण न रखकर स्वच्छन्द छोड़ देना-बढ़ने देना।

‘अगुप्ति’ के स्थान पर कहीं ‘अकीर्ति’ नाम उपलब्ध होता है। परिग्रह अपकीर्ति-अपयश का कारण होने से उसे अकीर्ति भी कहते हैं।

24. **आयास**-आयास का अर्थ है-खेद या प्रयास। परिग्रह जुटाने के लिए मानसिक और शारीरिक खेद होता है, प्रयास करना पड़ता है। अतएव यह आयास है।

25. **अवियोग**-विभिन्न पदार्थों के रूप में-धन, मकान या दुकान आदि के रूप में जो परिग्रह एकत्र किया है, उसे बिछुड़ने न देना। चमड़ी चली जाए पर दमड़ी न जाए, ऐसी वृत्ति।

26. **अमुक्ति**-मुक्ति अर्थात् निर्लोभता। उसका न होना अर्थात् लोभ की वृत्ति होना। यह मानसिक भाव परिग्रह है।

27. **तृष्णा**-अप्राप्त पदार्थों की लालसा और प्राप्त वस्तुओं की वृद्धि की अभिलाषा तृष्णा है। तृष्णा परिग्रह का मूल है।

28. **अनर्थक**-परिग्रह का एक नाम ‘अनर्थ’ पूर्व में कहा जा चुका है। वहाँ अनर्थ का आशय उपद्रव, झंझट या दुष्परिणाम से था। यहाँ अनर्थक का अर्थ ‘निरर्थक’ है। पारमार्थिक हित और सुख के लिए परिग्रह निरर्थक-निरुपयोगी है। इतना ही नहीं, वह वास्तविक हित और सुख में बाधक भी है।

29. **आसक्ति**-ममता, मूर्च्छा, गृद्धि।

30. **असंतोष**-असंतोष भी परिग्रह का एक रूप है। मन में बाह्य पदार्थों के प्रति संतुष्टि न होना। भले ही पदार्थ न हो परन्तु अंतरस में यदि असंतोष है तो वह भी परिग्रह है।

**विवेचन**-‘मुच्छा परिग्रहो वुत्तो’ इस आगमोक्ति के अनुसार यद्यपि मूर्च्छा-ममता परिग्रह है, तथापि जिनागम में सभी कथन सापेक्ष होते हैं। अतएव परिग्रह के

स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला यह कथन भाव की अपेक्षा से समझना चाहिए। ममत्व भाव परिग्रह है और ममत्वपूर्वक ग्रहण किए जाने वाले धन्य-धान्य, महल-मकान, कुटुम्ब-परिवार, यहाँ तक कि शरीर भी परिग्रह हैं। ये द्रव्य परिग्रह हैं।

इस प्रकार परिग्रह मूलतः दो प्रकार का है-आभ्यंतर और बाह्य। इन्हीं को भाव परिग्रह और द्रव्य परिग्रह कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह के जो तीस नाम गिनाए गए हैं, उन पर गंभीरता के साथ विचार करने पर यह आशय स्पष्ट हो जाता है। इन नामों में दोनों प्रकार के परिग्रहों का समावेश किया गया है। प्रारंभ में प्रथम नाम सामान्य परिग्रह का वाचक है। उसके पश्चात् संचय, चय, उपचय, निधान, संभार, संकर आदि कतिपय नाम प्रधानतः द्रव्य अथवा बाह्य परिग्रह को सूचित करते हैं। महिच्छा, प्रतिबंध, लोभात्मा, अगुप्ति, तृष्णा, आसक्ति, असंतोष आदि कतिपय नाम आभ्यंतर-किए बिना ही दोनों प्रकार के परिग्रहों का इन तीस नामों में समावेश कर दिया है।

अध्ययन के प्रारंभ में परिग्रह को वृक्ष की उपमा दी गई है। वृक्ष के छोटे-बड़े अनेक अंगोपांग-अवयव होते हैं। इसी प्रकार परिग्रह के भी अनेक अंगोपांग हैं। अनेकानेक रूप है। उन्हें समझाने की दृष्टि से यहाँ तीस नामों का उल्लेख किया गया है।

यहाँ यह तथ्य स्मरण रखने योग्य है कि भाव परिग्रह अर्थात् ममत्व बुद्धि एकांत परिग्रह रूप है। द्रव्य परिग्रह अर्थात् बाह्य पदार्थ तभी परिग्रह बनते हैं, जब उन्हें ममत्वपूर्वक ग्रहण किया जाता है।

तीस नामों में एक नाम 'अणत्थओ' अर्थात् अनर्थक भी है। इस नाम से सूचित होता है कि जीवन निर्वाह के लिए जो वस्तु अनिवार्य नहीं है, उसको ग्रहण करना भी परिग्रह ही है।

इस प्रकार ये तीस नाम परिग्रह के विराट रूप को सूचित करते हैं। शांति, संतोष, समाधि और आनंदमय जीवन यापन करने वालों को परिग्रह के इन रूपों को भलीभाँति समझकर त्यागना चाहिए।

95-उस (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) परिग्रह को लोभ से ग्रस्त-लालच के जाल में फँसे हुए, परिग्रह के प्रति रूचि रखने वाले, उत्तम भवनों में और विमानों में निवास करने वाले (भवनवासी एवं वैमानिक) ममत्वपूर्वक ग्रहण करते हैं। नाना प्रकार से परिग्रह को संचित करने की बुद्धि वाले देवों के निकाय-समूह, यथा-असुरकुमार,



नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, ज्वलन ( अग्नि )-कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार, स्तनितकुमार ( ये दस प्रकार के भवनवासी देव ) तथा अणपन्निक, पणपन्निक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, क्रन्दित, महाक्रन्ति, कूष्माण्ड और पतंग ( ये व्यंतर निकाय के अंतर्गत देव ) और ( पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग एवं गंधर्व, ये महर्द्धिक व्यंतर देव ) तथा तिर्यक्लोक-मध्यलोक में निवास-विचरण करने वाले पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देव, बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य, शुक्र और शनैश्चर, राहू, केतु और बुध, अंगारक ( तपाये हुए स्वर्ण जैसे वर्ण वाला-मंगल ), अन्य जो भी ग्रह ज्योतिष्चक्र में संचार करते हैं, केतु, गति में प्रसन्नता अनुभव करने वाले अट्टाईस प्रकार के नक्षत्र देवगण, नाना प्रकार के संस्थान-आकार वाले तारागण, स्थिर लेश्या अर्थात् कांति वाले अर्थात् मनुष्य क्षेत्र-अट्टाई द्वीप से बाहर के ज्योतिष्क और मनुष्य क्षेत्र के भीतर संचार करने वाले जो तिर्यक् लोक के ऊपरी भाग में ( समतल भूमि से 790 योजन 900 योजन तक की ऊँचाई में ) रहने वाले तथा अविश्रांत-लगातार-बिना रुके वर्तुलाकार गति करने वाले हैं ( ये सभी देव परिग्रह को ग्रहण करते हैं )।

( इनके अतिरिक्त ) ऊर्ध्वलोक में निवास करने वाले वैमानिक देव दो प्रकार के हैं-कल्पोपपन्न और कल्पातीत। सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ये उत्तम कल्प-विमानों में वास करने वाले-कल्पोपपन्न हैं।

( इनके ऊपर ) नौ ग्रैवेयकों और पाँच अनुत्तर विमानों में रहने वाले दोनों प्रकार के देव कल्पातीत हैं। ये विमानवासी ( वैमानिक ) देव महान् ऋद्धि के धारक, श्रेष्ठ सुरवर हैं।

ये ( पूर्वोक्त ) चारों प्रकारों-निकायों के, अपनी-अपनी परिषद् सहित परिग्रह को ग्रहण करते हैं-उसमें मूर्च्छा भाव रखते हैं। ये सभी देव भवन, हस्ती आदि वाहन, रथ आदि अथवा घूमने के विमान आदि यान, पुष्पक आदि विमान, शय्या, भद्रासन, सिंहासन प्रभृति आसन, विविध प्रकार के वस्त्र एवं उत्तम प्रहरण-शस्त्रास्त्रों को, अनेक प्रकार की मणियों के पंचरंगी दिव्य भाजनों-पात्रों को, विक्रियालब्धि से इच्छानुसार रूप बनाने वाली कामरूपा अप्सराओं के समूह को, द्वीपों, समुद्रों, पूर्व आदि दिशाओं, ईशान आदि विदिशाओं, चैत्यों-माणवक आदि या चैत्यस्तूपों, वनखण्डों

और पर्वतों को, ग्रामों और नगरों को, आरामों, उद्यानों-बगीचों और काननों-जंगलों को, कूप, सरोवर, तालाब, वापी-बावड़ी, दीर्घिका-लंबी बावड़ी, देवकुल-देवालय, सभा, प्रपा-प्याऊ और बस्ती को और बहुत-से कीर्तनीय-स्तुतियोग्य धर्मस्थानों को ममत्वपूर्वक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार विपुल द्रव्य वाले परिग्रह को ग्रहण करके इन्द्रों सहित देवगण भी न तृप्ति को और न संतुष्टि को अनुभव कर पाते हैं, अर्थात् अंतिम समय तक इन्द्रों और देवों को भी तृप्ति एवं संतोष नहीं होता।

ये सब देव अत्यंत तीव्र लोभ से अभिभूत संज्ञा वाले हैं, अतः वर्षधर पर्वतों (भरतादि क्षेत्रों को विभक्त करने वाले हिमवन्त, महाहिमवन्त आदि), इषुकार (धातकी खण्ड और पुष्करवर द्वीपों को विभक्त करने वाले दक्षिण और उत्तर दिशाओं में लंबे) पर्वत, वृत्तपर्वत (शब्दापाती आदि गोलाकार पर्वत), कुण्डल (जंबूद्वीप से ग्यारहवें कुण्डल नामक द्वीप में मण्डलाकार) पर्वत, रुचकवर (तेरहवें रुचक नामक द्वीप में मण्डलाकार रुचकवर नामक पर्वत), मानुषोत्तर (मनुष्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित करने वाला) पर्वत, कालोदधिसमुद्र, लवणसमुद्र, सलिला (गंगा आदि महानदियाँ), हृदपति (पद्म, महापद्म आदि हृद-सरोवर), रतिकर पर्वत (आठवें नदीश्वर नामक द्वीप के कोण में स्थित झल्लरी के आकार के चार पर्वत), अंजनक पर्वत (नदीश्वर द्वीप के चक्रवाल में रहे हुए कृष्णवर्ण के पर्वत), दधिमुखपर्वत (अंजनक पर्वतों के पास की सोलह पुष्करणियों में स्थित 16 पर्वत), अवपात पर्वत (वैमानिक देव मनुष्यक्षेत्र में आने के लिए जिन पर उतरते हैं), उत्पात पर्वत (भवनपति देव जिनसे ऊपर उठकर मनुष्य क्षेत्र में आते हैं-वे तिगिंछ कूट आदि), काञ्चनक (उत्तरकुर और देवकुर क्षेत्रों में स्थित स्वर्णमय पर्वत), चित्र-विचित्रपर्वत (निषध नामक वर्षधर पर्वत के निकट शीतोदा नदी के किनारे चित्रकूट और विचित्रकूट नामक पर्वत), यमकवर (नीलवन्त नामक वर्षधर पर्वत के समीप के शीता नदी के तट पर स्थित दो पर्वत), शिखरी (समुद्र में स्थित गोस्तूप आदि पर्वत), कूट (नंदनवन के कूट) आदि में रहने वाले ये देव भी तृप्ति नहीं पाते। (फिर अन्य प्राणियों का तो कहना ही क्या! वे परिग्रह से कैसे तृप्त हो सकते हैं?)

वक्षारों (विजयों को विभक्त करने वाले चित्रकूट आदि) में तथा अकर्मभूमियों में (हैमवत आदि भोगभूमि के क्षेत्रों में) और सुविभक्त-भलीभाँति विभाग वाली भरत, ऐरवत आदि पन्द्रह कर्मभूमियों में जो भी मनुष्य निवास करते हैं, जैसे-

चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, माण्डलिक राजा (मण्डल के अधिपति महाराजा), ईश्वर-युवराज, बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली लोग, तलवार (मस्तक पर स्वर्णपट्ट बाँधे हुए राजस्थानीय), सेनापति (सेना के नायक), इभ्य (इभ अर्थात् हाथी को ढँक देने योग्य विशाल संपत्ति के स्वामी), श्रेष्ठी (श्री देवता द्वारा अलंकृत चिह्न को मस्तक पर धारण करने वाले सेठ), राष्ट्रिक (राष्ट्र अर्थात् देश उन्नति-अवनति के विचार के लिए नियुक्ति अधिकारी), पुरोहित (शांतिकर्म करने वाले), कुमार (राजपुत्र), दण्डनायक (कोतवाल स्थानीय राज्याधिकारी), माडम्बिक (मडम्ब के अधिपति-छोटे राजा), सार्थवाह (बहुतेरे छोटे व्यापारियों आदि को साथ लेकर चलने वाले बड़े व्यापारी), कौटुम्बिक (बड़े कुटुम्ब के प्रधान या गाँव के मुखिया) और अमात्य (मंत्री), ये सब और इनके अतिरिक्त अन्य मनुष्य परिग्रह का संचय करते हैं। वह परिग्रह अनंत-अंतहीन या परिणामशून्य है, अशरण अर्थात् दुःख से रक्षा करने में असमर्थ है, दुःखमय अंत वाला है, अधुव है अर्थात् टिकाऊ नहीं है, ज्ञानीजनों के लिए त्याज्य है, विनाश का मूल कारण है, अन्य प्राणियों के वध और बंधन का कारण है, अर्थात् परिग्रह के कारण अन्य जीवों को वध-बंधन-क्लेश-परिताप उत्पन्न होता है अथवा परिग्रह स्वयं परिग्रही के लिए वध-बंधन आदि नाना प्रकार के घोर क्लेश का कारण बन जाता है, इस प्रकार वे पूर्वोक्त देव आदि धन, कनक, रत्नों आदि का संचय करते हुए लोभ से ग्रस्त होते हैं और समस्त प्रकार के दुःखों के स्थान इस संसार में परिभ्रमण करते हैं।

96-परिग्रह के लिए बहुत लोग सैकड़ों शिल्प या हुन्नर तथा उच्च श्रेणी की-निपुणता उत्पन्न करने वाले लेखन से लेकर शकुनिरुत-पक्षियों की बोली तक की, गणित की प्रधानता वाली बहत्तर कलाएँ सीखते हैं। नारियाँ रति उत्पन्न करने वाले चौसठ महिला गुणों को सीखती हैं। शिल्पपूर्वक सेवा करते हैं। कोई असि-तलवार आदि शस्त्रों को चलाने का अभ्यास करते हैं, कोई मसिकर्म-लिपि आदि लिखने की शिक्षा लेते हैं, कोई कृषि-खेती करते हैं, कोई वाणिज्य-व्यापार सीखते हैं, कोई व्यवहार अर्थात् विवाद के निपटारे की शिक्षा लेते हैं। कोई अर्थशास्त्र-राजनीति आदि की, कोई धनुर्वेद आदि शास्त्र एवं छुरी आदि शस्त्रों को पकड़ने के उपायों की, कोई अनेक प्रकार के वशीकरण आदि योगों की शिक्षा ग्रहण करते हैं। इस प्रकार के परिग्रह के सैकड़ों कारणों-उपायों में प्रवृत्ति करते हुए मनुष्य जीवनपर्यंत नाचते रहते हैं और

जिनकी बुद्धि मंद है-जो पारमार्थिक हिताहित का विवेक करने वाली बुद्धि की मंदता वाले हैं वे परिग्रह का संचय करते हैं।

परिग्रह के लिए लोग प्राणियों की हिंसा के कृत्य में प्रवृत्त होते हैं। झूठ बोलते हैं, दूसरों को ठगते हैं, निकृष्ट वस्तु को मिलावट करके उत्कृष्ट दिखलाते हैं और परकीय द्रव्य में लालच करते हैं। स्वदार-गमन में शारीरिक एवं मानसिक खेद को तथा परस्त्री प्राप्त न होने पर मानसिक पीड़ा को अनुभव करते हैं। कलह-वाचनिक विवाद-झगड़ा, लड़ाई तथा वैर-विरोध करते हैं, अपमान तथा यातनाएँ सहन करते हैं। इच्छाओं और चक्रवर्ती आदि के समान महेच्छाओं रूपी पिपासा से निरंतर प्यासे बने रहते हैं। तृष्णा-अप्राप्त द्रव्य की प्राप्ति की लालसा तथा प्राप्त पदार्थों संबंधी गृद्धि-आसक्ति तथा लोभ में ग्रस्त-आसक्त रहते हैं। वे त्राणहीन एवं इन्द्रियों तथा मन के निग्रह से रहित होकर क्रोध, मान, माया और लोभ का सेवन करते हैं।

इस निंदनीय परिग्रह में ही नियम से शल्य-मायाशल्य, मिथ्यात्वशल्य और निदानशल्य होते हैं, इसी में दण्ड-मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड-अपराध होते हैं, ऋद्धि, रस तथा साता रूप तीन गौरव होते हैं, क्रोधादि कषाय होते हैं, आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रह नामक संज्ञाएँ होती हैं, कामगुण-शब्दादि इन्द्रियों के विषय तथा हिंसादि पाँच आस्रवद्वार, इन्द्रियविकार तथा कृष्ण, नील एवं कापोत नामक तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। स्वजनों के साथ संयोग होते हैं और परिग्रहवान् असीम-अनंत सचित्त, अचित्त एवं मिश्र-द्रव्यों को ग्रहण करने की इच्छा करते हैं।

देवों, मनुष्यों और असुरों सहित इस त्रस-स्थावररूप जगत् में जिनेन्द्र भगवतों-तीर्थकरों ने (पूर्वोक्त स्वरूप वाले) परिग्रह का प्रतिपादन किया है। (वास्तव में) परिग्रह के समान अन्य कोई पाश-फंदा, बंधन नहीं है।

**विवेचन**-प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह के लिए किए जाने वाले विविध प्रकार के कार्यों का उल्लेख किया गया है। जिन कार्यों का सूत्र में साक्षात् वर्णन है, उनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से कार्य हैं, जिन्हें परिग्रह की प्राप्ति, वृद्धि एवं संरक्षण के लिए किया जाता है। अनेकानेक कार्य जीवनपर्यंत निरंतर करते रहने पर भी प्राणियों को परिग्रह से तृप्ति नहीं होती। जो परिग्रह अधिकाधिक तृष्णा, लालसा, आसक्ति और असंतुष्टि की वृद्धि करने वाला है, उससे तृप्ति अथवा संतुष्टि प्राप्त भी कैसे हो सकती है! जीवनपर्यंत उसे बढ़ाने के लिए जुटे रहने पर भी, जीवन का अंत आ जाता है

परन्तु लालसा का अंत नहीं आता।

तो क्या परिग्रह के पिशाच से कभी छुटकारा मिल ही नहीं सकता? ऐसा नहीं है। जिनकी विवेकबुद्धि जागृत हो जाती है, जो यथार्थ वस्तुस्वरूप को समझ जाते हैं, परिग्रह की निस्सारता का भान जिन्हें हो जाता है और जो यह निश्चय कर लेते हैं कि परिग्रह सुख का नहीं दुःख का कारण है, इससे हित नहीं अहित ही होता है, यह आत्मा की विशुद्धि का नहीं मलीनता का कारण है, इससे आत्मा का उत्थान नहीं पतन होता है, यह जीवन को भी अनेक प्रकार की यातनाओं से परिपूर्ण बना देता है, अशांति एवं आकुलता का जनक है, वे महान् पुरुष परिग्रह के पिशाच से अवश्य मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

मूलपाठ में ही कहा गया है-परिग्रह अर्थात् ममत्व भाव अनंत है-उसका कभी और कहीं अंत नहीं आता। वह अशरण है अर्थात् शरणदाता नहीं है। जब मनुष्य के जीवन में रोगादि उत्पन्न हो जाते हैं तो परिग्रह के द्वारा उनका निवारण नहीं हो सकता। चाहे पिता, पुत्र, पत्नी आदि सचित्त परिग्रह हो, चाहे धन-वैभव आदि अचित्त परिग्रह हो सब एक ओर रह जाते हैं। रोगी को कोई शरण नहीं दे सकते। यहाँ नमिराज के कथानक का अनायास स्मरण हो आता है। उन्हें व्याधि उत्पन्न होने पर परिग्रह की अकिंचित् करता का भान हुआ, उनका विवेक जाग उठा और उसी समय वे भावतः परिग्रह मुक्त हो गए। अतएव शास्त्रकार ने परिग्रह को दुरन्त कहा है। तात्पर्य यह है कि परिग्रह का अंत तो आ सकता है किन्तु कठिनाई से आता है।

परिग्रह का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित करने के लिए शास्त्रकार ने उसे 'अणंतं असरणं दुरंतं' कहने के साथ 'अधुवमणिच्चं, असासयं, पावकम्मणेमं, विणासमूलं, वहबंधपरिकिलेसबहुलं, अणंतसंकिलेसकारणं, सव्वदुक्खसंनिलयणं' इत्यादि विशेषणों द्वारा अभिहित किया है।

अकथनीय यातनाएँ झेलकर-प्राणों को भी संकट में डालकर कदाचित् परिग्रह प्राप्त कर भी लिया तो वह सदा ठहरता नहीं, कभी भी नष्ट हो जाता है। वह अनित्य है-सदा एक-सा रहता नहीं, अचल नहीं है-अशाश्वत है, समस्त पापकर्मों का मूल कारण है, यहाँ तक कि जीवन-प्राणों के विनाश का कारण है। बहुत बार परिग्रह की बदौलत मनुष्य को प्राणों से हाथ धोना पड़ता है-चोरों-लुटेरों-डकैतों के हाथों मरना पड़ता है और पारमार्थिक हित का विनाशक तो है ही।

लोग समझते हैं कि परिग्रह सुख का कारण है किन्तु ज्ञानीजनों की दृष्टि में वह वध, बंध आदि नाना प्रकार के क्लेशों का कारण होता है। परिग्रही प्राणी के मन में सदैव अशांति, आकुलता, बेचैनी, उथल-पुथल एवं आशंकाएँ बनी रहती हैं। परिग्रह के रक्षण की घोर चिन्ता दिन-रात उन्हें बेचैन बनाए रहती है। वे स्वजनों और परिजनों से भी सदा भयभीत रहते हैं। भोजन में कोई विष मिश्रित न कर दे इस आशंका के कारण निश्चिन्त होकर भोजन नहीं कर सकते। सोते समय कोई मार न डाले इस भय से आराम से सो नहीं सकते। उन्हें प्रतिक्षण आशंका रहती है। कहावत है-काया को नहीं, माया को डर रहता है। जिसका परिवार-रूप परिग्रह विशाल होता है उन्हें भी नाना प्रकार की परेशानियाँ सताती रहती हैं। परिग्रह से उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के मानसिक संक्लेश अनुभव सिद्ध है और समग्र लोक इनका साक्षी है। अतएव शास्त्रकार ने परिग्रह को अनंत संक्लेश का कारण कहा है।

परिग्रह केवल संक्लेश का ही कारण नहीं, वह 'सव्वदुक्खसंनिलयणं' भी है, अर्थात् जगत् के समस्त दुःखों का घर है। एक आचार्य ने यथार्थ ही कहा है-

### संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।

अनादि काल से आत्मा के साथ दुःखों की जो परंपरा चली आ रही है-एक दुःख का अंत होने से पहले ही दूसरा दुःख आ टपकता है, दुःख पर दुःख आ पड़ते हैं और भव-भवान्तर में यही दुःखों का प्रवाह प्रवहमान है, इसका मूल कारण संयोग है अर्थात् पर-पदार्थों के साथ अपने आपको जोड़ना है। यद्यपि कोई भी पर-पदार्थ आत्मा से जुड़ता नहीं तथापि ममताग्रस्त पुरुष अपने ममत्व के धागे से उन्हें जुड़ा हुआ मान लेता है-ममता के बंधन से उन्हें अपने साथ बाँधता है। परिणाम यह होता है कि पदार्थ तो बाँधते नहीं, प्रत्युत वह बाँधने वाला स्वयं ही बाँध जाता है। अतएव जो बंधन में नहीं पड़ना चाहते, उन्हें बाह्य पदार्थों के साथ संयोग स्थापित करने की कुबुद्धि का परित्याग करना चाहिए। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए शास्त्रकार ने श्रमणों को 'संजोगा विप्पमुक्कस्स' विशेषण प्रदान किया है अर्थात् श्रमण अनगार संयोग से विप्रमुक्त-पूर्णरूप से मुक्त होते हैं।

जब श्रमण परिग्रह से पूरी तरह मुक्त होते हैं, यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्व भाव से रहित होते हैं तो उनके उपासकों को भी यही श्रद्धा रखनी चाहिए कि परिग्रह अनर्थमूल होने से त्याज्य है। इस प्रकार की श्रद्धा यदि वास्तविक होगी तो

श्रमणोपासक अपनी परिस्थिति का पर्यालोचन करके उसकी एक सीमा निर्धारित अवश्य करेगा अथवा उसे ऐसा करना चाहिए। यही एकमात्र सुख और शांति का उपाय है। वर्तमान जीवन-संबंधी सुख-शांति और शाश्वत आत्महित इसी में है।

मूल पाठ में बहतर कलाओं और चौसठ महिला गुणों का निर्देश किया गया है। कलाओं के नाम अनेक आगमों में उल्लिखित हैं, उनके नामों में भी किंचित् भिन्नता दिखाई देती है। वस्तुतः कलाओं की कोई संख्या निर्धारित नहीं हो सकती। समय-समय पर उनकी संख्या और स्वरूप बदलता रहता है। आधुनिक काल में अनेक नवीन कलाओं का आविष्कार हुआ है। प्राचीन काल में जो कलाएँ प्रचलित थीं, उनका वर्गीकरण बहतर भेदों में किया गया था। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

1. लेखकला-लिखने की कला, ब्राह्मी आदि अठारह प्रकार की लिपियों को लिखने का विज्ञान।

2. गणितकला-गणना, संख्या की जोड़-बाकी आदि का ज्ञान।

3. रूपकला-वस्त्र, भित्ति, रजत-स्वर्णपट्ट आदि पर रूप (चित्र) बनाना।

4. नाट्यकला-नाचने और अभिनय करने का ज्ञान।

5. गीतकला-गायन संबंधी कौशल।

6. वाद्यकला-अनेक प्रकार के वाद्य बजाने की कला।

7. स्वरगत कला-अनेक प्रकार की राग-रागिनियों में स्वर निकालने की कला।

8. पुष्करगत कला-पुष्कर नामक वाद्य विशेष का ज्ञान।

9. समता कला-समान ताल से बजाने की कला।

10. द्यूतकला-जुआ खेलने की कुशलता।

11. जनवाद कला-जनश्रुति एवं किंवदन्तियों को जानना।

12. पौरस्कृत्य कला-पांसे खेलने का ज्ञान।

13. अष्टपद कला-शतरंज, चौसर आदि खेलने का ज्ञान।

14. दकमृत्तिका कला-जल के संयोग से मिट्टी के खिलौने आदि बनाना।

15. अन्नविधि कला-विविध प्रकार का भोजन बनाने का ज्ञान।

16. पानविधि कला-पेय पदार्थ तैयार करने की कुशलता।

17. वस्त्रविधि-वस्त्रों के निर्माण की कला।

18. शयनविधि-शयन संबंधी कला।

19. आर्याविधि-आर्या छंद बनाने की कला।
20. प्रहेलिका-पहेलियाँ बनाने, बूझने की कला, गूढार्थ वाली कविता रचना।
21. मागधिका-स्तुतिपाठ करने वाले चारण-भाटों संबंधी कला।
22. गाथाकला-प्राकृतादि भाषाओं में गाथाएँ रचने का ज्ञान।
23. श्लोककला-संस्कृतादि भाषाओं में श्लोक रचना।
24. गंधयुक्ति-सुगंधित पदार्थ तैयार करना।
25. मधुसिक्थ-स्त्रियों के पैरों में लगाया जाने वाला महावर बनाना।
26. आभरणविधि-आभूषण निर्माण की कला।
27. तरुणीप्रतिकर्म-तरुणी स्त्रियों के अनुरंजन का कौशल।
28. स्त्रीलक्षण-स्त्रियों के शुभाशुभ लक्षणों को जानने का कौशल।
29. पुरुषलक्षण-पुरुषों के शुभाशुभ लक्षणों को जानने का कौशल।
30. हयलक्षण-घोड़ों के लक्षण पहचानना।
31. गजलक्षण-हाथी के शुभाशुभ लक्षण जानना।
32. गोणलक्षण-बैलों के शुभाशुभ लक्षण जानना।
33. कुक्कुटलक्षण-मुर्गी के शुभाशुभ लक्षण जानना।
34. मेढलक्षण-मेढों के लक्षणों को पहचानना।
35. चक्रलक्षण-चक्र आयुध के लक्षण जानना।
36. छत्रलक्षण-छत्र के शुभाशुभ लक्षण जानना।
37. दण्डलक्षण-दण्ड के लक्षणों का परिज्ञान।
38. असिलक्षण-तलवार, वल्ली आदि के शुभ-अशुभ लक्षणों को जानना।
39. मणिलक्षण-मणियों के शुभ-अशुभ लक्षणों का ज्ञान।
40. काकणीलक्षण-काकणी नामक रत्न के लक्षणों को जानना।
41. चर्मलक्षण-चमड़े की या चर्मरत्न की पहचान।
42. चन्द्रचर्या-चन्द्र के संचार और समकोण, वक्रकोण आदि से उदित हुए चन्द्र के निमित्त से शुभ-अशुभ को जानना।
43. सूर्यचर्या-सूर्य संचार जनित उपरागों के फल को पहचानना।
44. राहूचर्या-राहू की गति एवं उसके द्वारा होने वाले चन्द्रग्रहणादि के फल को जानना।



45. ग्रहचर्या-ग्रहों के संचार के शुभाशुभ फलों का ज्ञान।
46. सौभाग्यकर-सौभाग्यवर्द्धक उपायों को जानना।
47. दौर्भाग्यकर-दुर्भाग्य बढ़ाने वाले उपायों को जानना।
48. विद्यागत-विविध प्रकार की विद्याओं का ज्ञान।
49. मंत्रगत-मंत्रों का परिज्ञान।
50. रहस्यगत-अनेक प्रकार के गुप्त रहस्यों को जानने की कला।
51. सभास-प्रत्येक वस्तु के वृत्त-स्वभाव का ज्ञान।
52. चारकला-गुप्तचर, जासूसी की कला।
53. प्रतिचारकला-ग्रह आदि के संचार का ज्ञान एवं रोगी की सेवा-शुश्रूषा का ज्ञान।
54. व्यूहकला-युद्ध के लिए सेना की गरुड़ आदि के आकार में रचना करना।
55. प्रतिव्यूह-व्यूह के सामने उसके विरोधी व्यूह की रचना करना।
56. स्कंधावारमान-सेना के शिविर-पड़ाव के प्रमाण को जानना।
57. नगरमान-नगर की रचना संबंधी कुशलता।
58. वास्तुमान-मकानों के मान-प्रमाण को जानना।
59. स्कंधावारनिवेश-सेना को युद्ध के योग्य खड़ा करने या पड़ाव का ज्ञान।
60. वस्तुनिवेश-वस्तुओं को कलात्मक ढंग से रखने-सजाने का ज्ञान।
61. नगरनिवेश-यथोचित स्थान पर नगर बसाने का ज्ञान।
62. इष्वस्त्रकला-बाण चलाने-छोड़ने का कौशल।
63. छरुप्रवादकला-तलवार की मूठ आदि बनाना।
64. अश्वशिक्षा-घोड़ों को वाहनों में जोतने आदि का ज्ञान।
65. हस्तिशिक्षा-हाथियों के संचालन आदि की कुशलता।
66. धनुर्वेद-शब्दवेधी आदि धनुर्विद्या का विशिष्ट ज्ञान।
67. हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक-चाँदी आदि को गलाने, पकाने और उनकी भस्म बनाने आदि का कौशल।
68. बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, सामान्ययुद्ध, नियुद्ध, युद्धतियुद्ध आदि अनेक प्रकार के युद्धों संबंधी कौशल।
69. सूत्रखेड, नालिकाखेड, वर्तखेड, चर्मखेड आदि नाना प्रकार के खेलों

को जानना।

70. पत्रच्छेद्य, कटकच्छेद्य-पत्रों एवं काष्ठों को छेदने-भेदने की कला।

71. सजीव-निर्जीव-सजीव को निर्जीव और निर्जीव को सजीव जैसा दिखाना।

72. शकुनिरुत-पक्षियों की बोली पहचानना।

**चौसठ महिला गुण-**(1) नृत्यकला (2) औचित्यकला (3) चित्रकला (4) वादित्त (5) मंत्र (6) तंत्र (7) ज्ञान (8) विज्ञान (9) दण्ड (10) जलस्तम्भन (11) गीतगान (12) तालमान (13) मेघवृष्टि (14) फलाकृष्टि (15) आरामरोपण (16) आकारगोपन (17) धर्मविचार (18) शकुनविचार (19) क्रियाकल्पन (20) संस्कृतभाषण (21) प्रसादनीति (22) धर्मनीति (23) वाणीवृद्धि (24) सुवर्णसिद्धि (25) सुरभितैल (26) लीलासंचारण (27) गज-तुरंगपरीक्षण (28) स्त्री-पुरुषलक्षण (29) स्वर्ण-रत्नभेद (30) अष्टादशलपि ज्ञान (31) तत्कालबुद्धि (32) वस्तुसिद्धि (33) वैद्यकक्रिया (34) कामक्रिया (35) घटभ्रम (36) सार परिश्रम (37) अंजनयोग (38) चूर्णयोग (39) हस्तलाघव (40) वचनपाटव (41) भोज्यविधि (42) वाणिज्यविधि (43) मुखमण्डन (44) शालिखण्डन (45) कथाकथन (46) पुष्पग्रथन (47) वक्रोक्तिजल्पन (48) काव्यशक्ति (49) स्फारवेश (50) सकलभाषाविशेष (51) अभिधानज्ञान (52) आभरणपरिधान (53) नृत्योपचार (54) गृहाचार (55) शाठ्यकरण (56) परनिराकरण (57) धान्यरन्धन (58) केशबंधन (59) वीणादिनाद (60) वितण्डावाद (61) अंकविचार (62) लोकव्यवहार (63) अन्त्याक्षरी और (64) प्रश्नप्रहेलिका।

ये पुरुषों की बहत्तर और महिलाओं की चौसठ कलाएँ हैं। बहत्तर कलाओं का नामोल्लेख आगमों में मिलता है, महिला गुणों का विशेष नामोल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। इनसे प्राचीनकालीन शिक्षा पद्धति एवं जीवन पद्धति का अच्छा चित्र हमारे समक्ष उभरकर आता है। आगमों से यह भी विदित होता है कि ये कलाएँ सूत्र से, अर्थ से और प्रयोग से सिखलाई जाती थीं।

परिग्रह के लिए किये जाने वाले अन्यान्य कार्यों के विषय में अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। मूल पाठ और अर्घ्य से ही उन्हें समझा जा सकता है। सारांश यह है कि परिग्रह के लिए मनुष्य आजीवन विविध कार्य करता है, उसके लिए

पचता है, मगर कभी तृप्त नहीं होता और अधिकाधिक परिग्रह के लिए तरसता-तरसता ही मरण के शिकंजे में फँसता है।

### परिग्रह पाप का कटुफल-

97-परलोगमि य णट्ठा तमं पविट्ठा महयामोहमोहियमई तिमिसंधयारे तसथावरसुहु-मबायरेसु पज्जत्तमपज्जत्तग-साहारण-पत्तेयसरीरेसु य अण्डय-पोयय-जराउय-रसय-संसेइम-सम्मच्छिम-उब्भिय-उववाइएसु य णरय-तिरिय-देव-मणुस्सेसु जरामरणरोगसोगबहुलेसु पलिओवमसागरोवमाइं अणाइयं अणवयगं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतरं अणुपरियट्ठंति जीवा लोहवससण्णिवट्ठा। एसो सो परिग्गहस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चइ ण अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खोत्ति।

एवमाहंसु णायकुलणंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरणामधिज्जो कहेसी य परिग्गहस्स फल-विवागं।

एसो सो परिग्गहो पंचमो उ णियमा णाणामणिकणगरयण-महरिह एवं जाव इमस्स मोक्खवरमोत्तिमग्गस्स फलहभूओ।

97-परिग्रह में आसक्त प्राणी परलोक में और इस लोक में (सुगति से, सन्मार्ग से और सुख-शांति से) नष्ट-भ्रष्ट होते हैं। अज्ञानान्धकार में प्रविष्ट होते हैं। तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से मोहित मति वाले, लोभ के वश में पड़े हुए जीव त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और बादर पर्यायों में तथा पर्याप्तक और अपर्याप्तक अवस्थाओं में यावत् चार गति वाले संसार-कानन में परिभ्रमण करते हैं।

परिग्रह का यह इस लोक संबंधी और परलोक संबंधी फल-विपाक अल्प सुख और अत्यंत दुःख वाला है। महान्-घोर भय से परिपूर्ण है, अत्यंत कर्म-रज से प्रगाढ़ है-गाढ़ कर्मबंध का कारण है, दारुण है, कठोर है और असाता का हेतु है। हजारों वर्षों में अर्थात् बहुत दीर्घ काल में इससे छुटकारा मिलता है। किन्तु इसके फल को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता।

इस प्रकार ज्ञातकुलनंदन महात्मा वीरवर (महावीर) जिनेश्वर देव ने कहा है। अनेक प्रकार की चन्द्रकांत आदि मणियों, स्वर्ण, कर्केतन आदि रत्नों तथा बहुमूल्य अन्य द्रव्यरूप यह परिग्रह मोक्ष के मार्गरूप मुक्ति-निर्लोभता के लिए अर्गला के समान है। इस प्रकार यह अंतिम आस्रव द्वार समाप्त हुआ।

## आस्रवद्वार का उपसंहार

### उपसंहार : गाथाओं का अर्थ

98-एएहिं पंचहिं असंवरेहिं, रयमादिणित्तु अणुसमयं।

चउविहगइपेरंतं, अणुपरियट्टंति संसारे।।1।।

98-इन पूर्वोक्त पाँच आस्रव द्वारों के निमित्त से जीव प्रतिसमय कर्मरूपी रज का संचय करके चार गतिरूप संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

99-सव्वगइपक्खंदे, काहिंति अणंतए अकयपुण्णा।

जे य ण सुणंति धम्मं, सोऊण य जे पमायंति।।2।।

99-जो पुण्यहीन प्राणी धर्म को श्रवण नहीं करते अथवा श्रवण करके भी उसका आचरण करने में प्रमाद करते हैं, वे अनंत काल तक चार गतियों में गमनागमन (जन्म-मरण) करते रहेंगे।

100-अणुसिट्ठं वि बहुविहं, मिच्छदिट्ठिया जे णरा अहम्मा।

बद्धणिकाइयकम्मा, सुणंति धम्मं ण य करंति।।3।।

100-जो पुरुष मिथ्यादृष्टि हैं, अधार्मिक हैं, जिन्होंने निकाचित (अत्यंत प्रगाढ़) कर्मों का बंध किया है, वे अनेक तरह से शिक्षा पाने पर भी, धर्म का श्रवण तो करते हैं किन्तु उसका आचरण नहीं करते।

101-किं सक्खा काउं जे, णेच्छह ओसहं मुहा पाउं।

जिणवयणं गुणमहुरं, विरेयणं सव्वदुक्खाणं।।4।।

101-जिन भगवान् के वचन समस्त दुःखों का नाश करने के लिए गुणयुक्त मधुर विरेचन-औषध हैं, किन्तु निःस्वार्थ भाव से दी जाने वाली इस औषध को जो पीना ही नहीं चाहते, उनके लिए क्या किया जा सकता है?

102-पंचेव य उज्झिरुणं, पंचेव य रक्खिरुणं भावेणं।

कम्मरय-विप्पमुक्कं, सिद्धिवर-मणुत्तरं जंति।।5।।

102-जो प्रणी पाँच (हिंसा आदि आस्रवों) को त्याग कर और पाँच (अहिंसा आदि संवरों) की भावपूर्वक रक्षा करते हैं, वे कर्म-रज से सर्वथा रहित होकर सर्वोत्तम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करते हैं।

### परिग्रह त्याग का स्वरूप

सूत्रक्रम के अनुसार ब्रह्मचर्यसंवर के पश्चात् अपरिग्रहसंवर का प्रतिपादन क्रम

प्राप्त है अथवा इससे पूर्व मैथुनविरमण का कथन किया गया है, वह सर्वथा परिग्रह का त्याग करने पर ही संभव है, अतएव अब परिग्रहविरमण रूप संवर का निरूपण किया जा रहा है। उसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है-

उत्क्षेप-

154-जंबू! अपरिग्गहसंवुडे य समणे आरंभ-परिग्गहाओ विरए, विरए कोह-माण-माया-लोहा।

एगे असंजमे।

दो चेव रागदोसा।

तिण्णि य दंडा, गारवा य, गुत्तीओ तिण्णि, तिण्णि य विराहणाओ।

चत्तारि कसाया झाण-सण्णा-विकहा तथा य हुंति चउरो।

पंच य किरियाओ समिइ-इंदिय-महव्वयाइं च।

छज्जीवणिकाया, छच्च लेसाओ।

सत्त भया।

अट्टु य मया।

णव चेव य बंभचेर-वयगुत्ती।

दसप्पगारे य समणधम्मे।

एगारस य उवासगाणं।

बारस य भिक्खुपडिमा।

तेरस किरियाठाणा य।

चउद्दस भूयगामा।

पण्णरस परमाहम्मिया।

गाहा सोलसया।

सत्तरस असंजमे।

अट्टारस अबंभे।

एगुणवीसइ णायज्झयणा।

वीसं असमाहिट्टाणा।

एगवीसा य सबला य।

बावीसं परिसहा य।

तेवीसए सूयगडज्जयणा।  
 चउवीसविहा देवा।  
 पण्णवीसाए भावणा।  
 छव्वीसा दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकाला।  
 सत्तावीसा अणगारगुणा।  
 अट्टावीसा आयारकप्पा।  
 एगुणतीसा पावसुया।  
 तीसं मोहणीयट्टाणा।  
 एगतीसाए सिद्धाङ्गुणा।  
 बत्तीसा य जोगसंग्गहे।  
 तित्तीसा आसायणा।

एककाइयं करित्ता एगुत्तरियाए वुड्डीए तीसाओ जाव उ भवे तिगाहिया विरइपणिहीसु य एवमाइसु बहुसु ठाणेसु जिणपसत्थेसु अवितहेसु सासयभावेसु अवट्टिएसु संकं कंखं णिराकरित्ता सदहए सासणं भगवओ अणियाणे अगारवे अलुद्धे अमूढमणवयण-कायगुत्ते। (प्रश्न व्याकरण सूत्र)

154-श्री सुधर्मा स्वामी ने अपने प्रधान अंतेवासी जंबू को संबोधन करते हुए कहा-हे जंबू! जो मूर्च्छा-ममत्वभाव से रहित है, इन्द्रियसंवर तथा कषायसंवर से युक्त है एवं आरंभ परिग्रह से तथा क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित है, वही श्रमण या साधु होता है।

1. अविरति रूप एक स्वभाव के कारण अथवा भेद की विवक्षा न करने पर असंयम सामान्य रूप से एक है।

2. इसी प्रकार संक्षेप विवक्षा से बंधन दो प्रकार है-रागबंधन और द्वेषबंधन।

3. दण्ड तीन है-मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड। गौरव तीन प्रकार के है-ऋद्धिगौरव, रसगौरव, सातागौरव। गुप्ति तीन प्रकार की है-मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति। विराधना तीन प्रकार की है-ज्ञान की विराधना, दर्शन की विराधना और चारित्र की विराधना।

4. कषाय चार है-क्रोध, मान, माया, लोभ। ध्यान चार है-आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान। संज्ञा चार प्रकार की है-आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा,

परिग्रहसंज्ञा। विकथा चार प्रकार की है-स्त्रीकथा, भोजनकथा, राजकथा और देशकथा।

5. क्रियाएँ पाँच है-कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी। समितियाँ पाँच हैं-ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और परिष्ठापनिकासमिति। इन्द्रियाँ पाँच हैं-स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रि और श्रोत्रेन्द्रिय। महाव्रत पाँच हैं-अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अस्तेयमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत और

6. जीविकाय अर्थात् संसारी जीवों के छह समूह-वर्ग हैं-(1) पृथ्वीकाय (2) अप्काय (3) तेजस्काय (4) वायुकाय (5) वनस्पतिकाय और (6) त्रसकाय।  
लेश्याएँ छह हैं-(1) कृष्णलेश्या (2) नीलेश्या (3) कापोतलेश्या (4) पीतलेश्या (5) पद्मलेश्या (6) शुक्ललेश्या।

7. भय सात प्रकार के हैं-(1) इहलोकभय (2) परलोकभय (3) आदानभय (4) अकस्मात् भय (5) आजीविकाभय (6) अपयशभय और (7) मृत्युभय।

8. मद आठ हैं-(1) जातिमद (2) कुलमद (3) बलमद (4) रूपमद (5) तपमद (6) लाभमद (7) श्रुतमद (8) ऐश्वर्यमद।

9. ब्रह्मचर्य-गुप्तियाँ नौ हैं-(1) विविक्तशयनासनसेवन (2) स्त्रीकथावर्जन (3) स्त्रीयुक्त आसन का परिहार (4) स्त्री के रूपादि के दर्शन का त्याग (5) स्त्रियों के श्रृंगारमय, करुण तथा हास्य आदि संबंधी शब्दों के श्रवण का परिवर्जन (6) पूर्वकाल में भोगे हुए भोगों के स्मरण का वर्जन (7) प्रणीत आहार का त्याग (8) प्रभूत-अति आहार का त्याग और (9) शारीरिक विभूषा का त्याग।

10. श्रमणधर्म दस हैं-(1) क्षान्ति (2) मुक्ति-निलोभता (3) आर्जव-निष्कपटता-सरलता (4) मार्दव-मृदुता-नम्रता (5) लाघव-उपधि की अल्पता (6) सत्य (7) संयम (8) तप (9) त्याग और (10) ब्रह्मचर्य।

11. श्रमणोपासक की प्रतिमाएँ ग्यारह हैं-(1) दर्शनप्रतिमा (2) व्रतप्रतिमा (3) सामायिक प्रतिमा (4) पौषधप्रतिमा (5) कायोत्सर्गप्रतिमा (6) ब्रह्मचर्यप्रतिमा (7) सचित्तत्यागप्रतिमा (8) आरम्भत्यागप्रतिमा (9) प्रेष्यप्रयोगत्यागप्रतिमा (10) उद्दिष्टत्यागप्रतिमा और (11) श्रमणभूतप्रतिमा।

12. भिक्षु-प्रतिमाएँ बारह हैं। वे इस प्रकार हैं-

मासाई सत्तंता पढमा बिय तिय सत्त राइदिणा।

### अहराड़ एगराई भिक्खू पडिमाण बारसगं।।

अर्थात् एकमसिकी, द्विमासिकी, त्रिमासिकी से लेकर सप्तमासिकी तक की सात प्रतिमाएँ, सात-सात अहोरात्र की आठवीं, नौवीं और दसमी, एक अहोरात्र की ग्यारहवीं और एक रात्रि की बारहवीं प्रतिमा। विशेष विवरण दशाश्रुतस्कंधसूत्र से जानना चाहिए।

13. क्रियास्थान तेरह हैं, जो इस प्रकार हैं-

**अट्टाऽणट्टाहिंसाऽकम्हा दिट्ठी य मोसऽदिन्ने य।**

**अज्झप्पमाणमित्ते मायालोभेरिया वहिया।।**

अर्थात्-(1) अर्थदण्ड (2) अनर्थदण्ड (3) हिंसादण्ड (4) अकस्मातदण्ड (5) दृष्टिविपर्यासदण्ड (6) मृषावाद (7) अदत्तादानदण्ड (8) अध्यात्मदण्ड (9) मानदण्ड (10) मित्रद्वेषदण्ड (11) मायादण्ड (12) लोभदण्ड और (13) ऐर्यापथिकदण्ड।

इनका विशेष विवेचन सूत्रकृतांग आदि सूत्रों से जान लेना चाहिए।

14. भूतग्राम अर्थात् जीवों के समूह चौदह हैं, जो इस प्रकार हैं-(1) सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक (2) सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक (3) बादर एकेन्द्रिय पर्याप्तक (4) बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तक (5) द्वीन्द्रिय पर्याप्तक (6) द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक (7-8) त्रीन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक (9-10) चतुरिन्द्रिय पर्याप्तक-अपर्याप्तक (11-12) पंचेन्द्रिय असंज्ञी पर्याप्तक-अपर्याप्तक (13-14) पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक और अपर्याप्तक।

15. नारक जीवों को, तीसरे नरक तक जाकर नानाविध पीड़ा देने वाले असुरकुमार देव परमाधार्मिक कहलाते हैं। वे पन्द्रह प्रकार के हैं-(1) अम्ब (2) अम्बरीष (3) श्याम (4) शबल (5) रौद्र (6) उपरौद्र (7) काल (8) महाकाल (9) असिपत्र (10) धनु (11) कुंभ (12) वालुक (13) वैतरणिक (14) खरस्वर और (15) महाघोष। इनके द्वारा उत्पन्न की जाने वाली यातनाओं का वर्णन प्रथम आस्रवद्वार में आ गया है।

16. गाथाषोडशक-सूत्रकृतांगसूत्र के वे सोलह अध्ययन जिनमें गाथा नामक अध्ययन सोलहवाँ है। उनके नाम ये हैं-(1) समय (2) वैतालीय (3) उपसर्गपरिज्ञा (4) स्त्रीपरिज्ञा (5) नरकविभक्ति (6) वीरस्तुति (7) कुशीलपरिभाषित (8) वीर्य



(9) धर्म (10) समाधि (11) मार्ग (12) समवसरण (13) याथातथ्य (14) ग्रंथ (15) यमकीय और (16) गाथा।

17. असंयम-(1) पृथ्वीकाय-असंयम (2) अष्काय-असंयम (3) तेजस्काय-असंयम (4) वायुकाय-असंयम (5) वनस्पतिकाय-असंयम (6) द्वीन्द्रिय-असंयम (7) त्रीन्द्रिय-असंयम (8) चतुरिन्द्रिय-असंयम (9) पञ्चेन्द्रिय-असंयम (10) अजीव-असंयम (11) प्रेक्षा-असंयम (12) उपेक्षा-असंयम (13) अपहृत्य (प्रतिष्ठापन) असंयम (14) अप्रमार्जन-असंयम (15) मन-असंयम (16) वचन-असंयम और (17) काय-असंयम।

पृथ्वीकाय आदि नौ प्रकार के जीवों की यतना न करना, इनका आरंभ करना और मूल्यवान् वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि अजीव वस्तुओं को ग्रहण करना, जीव-अजीव-असंयम है। धर्मोपकरणों की यथाकाल यथाविधि प्रतिलेखना न करना प्रेक्षा-असंयम है। संयम-कार्यों में प्रवृत्ति न करना और असंयमयुक्त कार्य में प्रवृत्ति करना उपेक्षा-असंयम है। मल-मूत्र आदि का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रतिष्ठापन न करना-त्यागना अपहृत्य-प्रतिष्ठापन-असंयम है। वस्त्र-पात्र आदि उपधि का विधिपूर्वक प्रमार्जन नहीं करना अप्रमार्जन-असंयम है। मन को प्रशस्त चिन्तन में नहीं लगाना या अप्रशस्त चिन्तन में लगाना मानसिक-असंयम है। अप्रशस्त या मिथ्या अथवा अर्ध मिथ्या वाणी का प्रयोग करना वचन-असंयम है और काय से सावद्य व्यापार करना काय-असंयम है।

18. अब्रह्म-अब्रह्मचर्य के अठारह प्रकार ये हैं-

**ओरालियं च दिव्वं, मण-वय-कायाण करण-जोगेहिं।**

**अणुमोयण-कारावण-करणेणद्वारसाऽबंभं।।**

अर्थात्-औदारिक शरीर द्वारा मन, वाणी और काय से अब्रह्मचर्य का सेवन करना, कराना और अनुमोदना तथा इसी प्रकार वैक्रिय शरीर द्वारा मन, वचन, काय से अब्रह्म का सेवन करना, कराना और अनुमोदन करना। दोनों के सम्मिलित भेद अठारह हैं।

19. ज्ञात-अध्ययन-ज्ञाताधर्मकथा नामक अंक के 19 अध्ययन इस प्रकार हैं-(1) उत्क्षिप्त (2) संघाट (3) अण्ड (4) कूर्म (5) शैलकन्नृषि (6) तुम्ब (7) रोहिणी (8) मल्ली (9) माकन्दी (10) चन्द्रिका (11) दवदव (इस नाम के

वृक्षों का उदाहरण) (12) उदक (13) मण्डूक (14) तेतलि (15) नन्दिफल (16) अपरकंका (17) आकीर्ण (18) सुषमा और (19) पुण्डरीक।

20. असमाधिस्थान इस प्रकार हैं-(1) द्रुतचारित्व-संयम की उपेक्षा करके जल्दी-जल्दी चलना (2) अप्रमार्जित-चारित्व-भूमि का प्रमार्जन किए बिना उठना, बैठना, चलना आदि। (3) दुष्प्रमार्जित-चारित्व-विधिपूर्वक भूमि आदि का प्रमार्जन न करना (4) अतिरिक्त शय्यासनिकत्व-मर्यादा से अधिक आसन या शय्या-उपाश्रयस्थान ग्रहण करना (5) रात्रिकपरिभाषित्व-अपने से बड़े आचार्यादि का विनय न करना, अविनय करना (6) स्थविरोपघातित्व-दीक्षा, आयु और श्रुत से स्थविर मुनियों के चित्त को किसी व्यवहार से व्यथा पहुँचाना (7) भूतोपघातित्व-जीवों का घात करना (8) संज्वलनता-बात-बात में क्रोध करना या ईर्ष्या की अग्नि से जलना (9) क्रोधनता-क्रोधशील होना (10) पृष्टिमांसकता-पीठ पीछे किसी की निन्दा करना (11) अभीक्ष्णमवधारकता-वारंवारं निश्चयकारी भाषा का प्रयोग करना (12) नये-नये कलह उत्पन्न करना (13) शांत हो चुके पुराने कलह को नये सिरे से जागृत करना (14) सचित्रज हाथ-पैर वाले दाता से आहार लेना (15) निषिद्धकाल में स्वाध्याय करना (16) कलहोत्पादक कार्य करना, बातें करना या उनमें भाग लेना (17) रात्रि में ऊँचे स्वर से बोलना, शास्त्रपाठ करना (18) झंझाकरत्व-गण, संघ या गच्छ में फूट उत्पन्न करने या मानसिक पीड़ा उत्पन्न करने वाले वचन बोलना (19) सूर्योदय से सूर्यास्त तक भोजन करते रहना (20) एषणासमिति के अनुसार आहार की गवेषणा आदि न करना और दोष बतलाने पर झगड़ना।

21. शबलदोष-चारित्र को कलुषित करने वाले दोष शबलदोष कहे गए हैं। वे इक्कीस हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं-(1) हस्तकर्म करना (2) अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार रूप में मैथुन सेवन करना (3) अतिक्रमादिरूप से रात्रि में भोजन करना (4) आधाकर्म-दूषित आहार करना (5) शय्यातर के आहार का सेवन करना (6) उद्दिष्ट, क्रीत आदि दोषों वाला आहार करना (7) त्यागे हुए अशन आदि का उपयोग करना (8) छह महीने के भीतर एक गण का त्याग कर दूसरे गण में जाना (9) एक मास में तीन बार नाभिप्रमाण जल में अवगाहन करना (10) एक मास में तीन बार मायाचार करना (11) राजपिण्ड का सेवन करना (12) इरादापूर्वक प्राणियों की हिंसा करना (13) इरादापूर्वक मृषावाद करना (14) इरादापूर्वक अदत्तादान

करना (15) जान-बूझकर सचित्त भूमि पर कायोत्सर्ग करना (16) जान-बूझकर गीली, सरजस्क भूमि पर, सचित्त शिला पर या घुन वाले काष्ठ पर सोना-बैठना (17) बीजों तथा जीवों से युक्त अन्य किसी स्थान पर बैठना (18) जान-बूझकर कंदमूल खाना (19) एक वर्ष में दस बार नाभिप्रमाण जल में अवगाहन करना (20) एक वर्ष में दस बार माया का सेवन करना और (21) वारंवार सचित्त जल से लिप्त हाथ आदि से आहारादि ग्रहण करना।

22. परीषह-संयम-जीवन में होने वाले कष्ट, जिन्हें समभावपूर्वक सहन करके साधु कर्मों की विशिष्ट निर्जरा करता है। ये बाईस परीषह इस प्रकार हैं-

**खुहा पिवासा सीउण्हं दंसा चेलऽरई-त्थिओ।**

**चरिया निसीहिया सेज्जा, अक्कोसा वह जायण।।**

**अलाभ-रोग-तणफासा, मल-सक्कार परीसहा।**

**पण्णा अण्णाण सम्मत्तं, इय बावीस परीसहा।।**

अर्थात् (1) क्षुधा (भूख) (2) पिपासा-प्यास (3) शीत-ठंड (4) उष्ण (गर्मी) (5) दंश-मशक (डांस-मच्छरों द्वारा सताया जाना) (6) अचेल (निर्वस्त्रता या अल्प एवं फटे-पुराने वस्त्रों का कष्ट) (7) अरति-संयम में अरुचि (8) स्त्री (9) चर्या (10) निषद्या (11) शय्या-उपाश्रय (12) आक्रोश (13) वध-मारा-पीटा जाना (14) याचना (15) अलाभ-लेने की इच्छा होने पर भी आहार आदि आवश्यक वस्तु का न मिलना (16) रोग (17) तृणस्पर्श-कंकर-काँटा आदि की चुभन (18) जल्ल-मल को सहन करना (19) सत्कार-पुरस्कार-आदर होने पर अहंकार और अनादर की अवस्था में विषाद होना (22) प्रज्ञा-विशिष्ट बुद्धि का अभिमान (21) अज्ञान-विशिष्ट ज्ञान के अभाव में खेद का अनुभव और (22) अदर्शन।

इन बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करने वाला संयमी विशिष्ट निर्जरा का भागी होता है।

23. सूत्रकृतांग-अध्ययन-प्रथम श्रुतस्कंध के पूर्वलिखित सोलह अध्ययन और द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन मिलकर तेईस होते हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन ये हैं-(1) पुण्डरीक (2) क्रियास्थान (3) आहारपरिज्ञा (4) प्रत्याख्यानक्रिया (5) अनगारश्रुत (6) आर्द्रकुमार और (7) नालन्दा।

24. चार निकाय के देवों के चौबीस अवान्तर भेद हैं-10 भवनवासी, 8 वाणव्यन्तर, 5 ज्योतिष्क और सामान्यतः 1 वैमानिक। मतान्तर से मूलपाठ में आए 'देव' शब्द से देवाधिदेव अर्थात् तीर्थंकर समझना चाहिए, जिनकी संख्या चौबीस प्रसिद्ध है।

25. भावना-एक-एक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ होने से पाँचों की सम्मिलित पच्चीस भावनाएँ हैं।

26. उद्देश-दशाश्रुतस्कंध के 10, बृहत्कल्प के 6 और व्यवहारसूत्र के 10 उद्देशक मिलकर छब्बीस हैं।

27. गुण अर्थात् साधु के मूलगुण सत्ताईस हैं-5 महाव्रत, 5 इन्द्रियनिग्रह, 4 क्रोधादि कषायों का परिहार, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, विरागता, मन का, वचन का और काय का निरोध, ज्ञानसम्पन्नता, दर्शनसम्पन्नता, चारित्रसम्पन्नता, वेदनादि सहन और मारणान्तिक उपसर्ग का सहन। अन्य विवक्षा से व्रतषट्क (पाँच महाव्रत और रात्रि भोजन-त्याग), पाँच इन्द्रियनिग्रह, भावसत्य, करणसत्य, क्षमा, विरागता, मनोनिरोध, वचननिरोध, कायनिरोध, छह कायों की रक्षा, योगयुक्तता, वेदनाध्यास (परीषह सहन) और मारणान्तिक संलेखना, इस प्रकार 27 गुण अनगार के होते हैं।

28. प्रकल्प-आचार प्रकल्प 28 हैं। यहाँ आचार का अर्थ है-आचारांगसूत्र के दोनों श्रुतस्कंधों के अध्ययन, जिनकी संख्या पच्चीस है और प्रकल्प का अर्थ है-निशीथसूत्र के तीन अध्ययन-उद्घातिक, अनुद्घातिक और आरोपणा। ये सब मिलकर 28 हैं।

29. पापश्रुतप्रसंग के 29 भेद इस प्रकार हैं-(1) भौम (2) उत्पात (3) स्वप्न (4) अंतरिक्ष (5) अंग (6) स्वर (7) लक्षण (8) व्यंजन। इन आठ प्रकार के निमित्तशास्त्रों के सूत्र, वृत्ति और वर्तिक के भेद से 24 भेद हो जाते हैं। इनमें विकथानुयोग, विद्यानुयोग, मंत्रानुयोग, योगानुयोग और अन्यतीर्थिक प्रवृत्तानुयोग-इन पाँच को सम्मिलित करने पर पापश्रुत के उनतीस भेद होते हैं। मतान्तर से अंतिम पाँच पापश्रुतों के स्थान पर गंधर्व, नाट्य, वास्तु, चिकित्सा और धनुर्वेद का उल्लेख मिलता है।

30. मोहनीय-अर्थात् मोहनीय कर्म के बंधन के तीस स्थान-कारण इस प्रकार हैं-(1) जल में डूबाकर त्रस जीवों का घात करना (2) हाथ आदि से मुख, नाक

आदि बंद करके मारना (3) गीले चमड़े की पट्टी कसकर मस्तक बाँधकर मारना (4) मस्तक पर मुद्गर आदि का प्रहार करके मारना (5) श्रेष्ठ पुरुष की हत्या करना (6) शक्ति होने पर भी दुष्ट परिणाम के कारण रोगी की सेवा न करना (7) तपस्वी साधक को बलात् धर्मभ्रष्ट करना (8) अन्य के सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग रूप शुद्ध परिणामों को विपरीत रूप में परिणत करके उसका अपकार करना (9) जिनेन्द्र भगवान् की निन्दा करना (10) आचार्य-उपाध्याय की निन्दा करना (11) ज्ञानदान आदि से उपकारक आचार्य आदि का उपकार न मानना एवं उनका यथोचित सम्मान न करना (12) पुनः-पुनः राजा के प्रयाण के दिन आदि का कथन करना (13) वशीकरणादि का प्रयोग करना (14) परित्यक्त भोगों की कामना करना (15) बहुश्रुत न होने पर भी अपने को बहुश्रुत कहना (16) तपस्वी न होकर भी अपने को तपस्वी के रूप में विख्यात करना (17) बहुत जनों को बढ़िया मकान आदि में बंद करके आग लगाकर मार डालना (18) अपने पाप को पराये सिर मढ़ना (19) मायाजाल रचकर जनसाधारण को ठगना (20) अशुभ परिणामवश सत्य को भी सभा में-बहुत लोगों के समक्ष-असत्य कहना (21) वारंवार कलह-लड़ाई-झगड़ा करना (22) विश्वास में लेकर दूसरे का धन हड़प जाना (23) विश्वास उत्पन्न कर परकीय स्त्री को अपनी ओर आकृष्ट करना-लुभाना (24) कुमार-अविवाहित न होने पर भी अपने को कुमार कहना (25) अब्रह्मचारी होकर भी अपने को ब्रह्मचारी कहना (26) जिसकी सहायता से वैभव प्राप्त किया उसी उपकारी के द्रव्य पर लोलुपता करना (27) जिसके निमित्त से ख्याति अर्जित की उसी के काम में विघ्न डालना (28) राजा, सेनापति अथवा इसी प्रकार के किसी राष्ट्रपुरुष का वध करना (29) देवादि का साक्षात्कार न होने पर भी साक्षात्कार-दिखाई देने की बात कहना और (30) देवों की अवज्ञा करते हुए स्वयं को देव कहना। इन कारणों से मोहनीय कर्म का बंध होता है।

31. सिद्धादिगुण-सिद्ध भगवान् में आदि से अर्थात् सिद्धावस्था के प्रथम समय से ही उत्पन्न होने वाले या विद्यमान रहने वाले गुण सिद्धादिगुण कहलाते हैं अथवा 'सिद्धादिगुण' पद का अर्थ 'सिद्धादिगुण' होता है, जिसका तात्पर्य है-सिद्धों के आत्यन्तिक गुण। ये इकतीस हैं-(1-5) मतिज्ञानावरणीय आदि पाँच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय (6-14) नौ प्रकार के दर्शनावरण का क्षय (15-16) सातावेदनीय-

असातावेदनीय का क्षय (17) दर्शनमोहनीय का क्षय (18) चारित्रमोहनीय का क्षय (19-22) चार प्रकार के आयुष्यकर्म का क्षय (23-24) दो प्रकार के गोत्रकर्म का क्षय (25-26) शुभनामकर्म और अशुभनामकर्म का क्षय (27-31) पाँच प्रकार के अंतराय कर्म का क्षय।

प्रकारान्तर से इकतीस गुण इस प्रकार हैं-पाँच संस्थानों, पाँच वर्णों, पाँच रसों, दो गंधों, आठ स्पर्शों और तीन वेदों (स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद) से रहित होने के कारण 28 गुण तथा अकायता, असंगता और अरूपित्व, ये तीन गुण सम्मिलित कर देने पर सब 31 गुण होते हैं।

32. योगसंग्रह-मन, वचन और काय की प्रशस्त प्रवृत्तियों का संग्रह योगसंग्रह कहलाता है। यह बत्तीस प्रकार का है-(1) आलोचना-आचार्यादि के समक्ष शिष्य द्वारा अपने दोष को यथार्थ रूप से निष्कपट भाव से प्रकट करना। (2) निरपलाप-शिष्य द्वारा प्रकट किए हुए दोषों को आचार्यादि किसी अन्य के समक्ष प्रकट न करे। (3) आपत्ति आ पड़ने पर भी धर्म में दृढ़ता रखना (4) बिना किसी का सहारा लिए तपश्चर्या करना (5) आचार्यादि से सूत्र और उसके अर्थ आदि को ग्रहण करना (6) शरीर का श्रृंगार न करना (7) अपनी तपश्चर्या या उग्र क्रिया को प्रकाशित न करना (8) निर्लोभ होना (9) कष्ट-सहिष्णु होना-परीषहों को समभाव से सहन करना (10) आर्जव-सरलता-निष्कपटभाव होना (11) शुचिता-सत्य होना (12) दृष्टि सम्यक् रखना (13) समाधि-चित्त को समाहित रखना (14) पाँच प्रकार के आचार का पालन करना (15) विनीत होकर रहना (16) धैर्यवान् होना-धर्मपालन में दीनता का भाव न उत्पन्न होने देना (17) संवेगयुक्त रहना (18) प्रणिधि अर्थात् मायाचार न करना (19) समीचीन आचार-व्यवहार करना (20) संवर-ऐसा आचरण करना जिससे कर्मों का आस्रव रुक जाए (21) आत्मदोषोपसंहार-अपने में उत्पन्न होने वाले दोषों का निरोध करना (22) काम-भोगों से विरत रहना (23) मूल गुणों संबंधी प्रत्याख्यान करना (24) उत्तर गुणों से संबंधित प्रत्याख्यान करना-विविध प्रकार के नियमों को अंगीकार करना (25) व्युत्सर्ग-शरीर, उपधि तथा कषायादि का उत्सर्ग करना-त्यागना (26) प्रमाद का परिहार करना (27) प्रतिक्षण समाचारी का पालन करना (28) ध्यान-रूप संवर की साधना करना (29) मारणान्तिक कष्ट के अवसर पर भी चित्त में क्षोभ न होना (30) विषयासक्ति से बचे रहना (31)

अंगीकृत प्रायश्चित्त का निर्वाह करना या दोष होने पर प्रायश्चित्त लेना और (32) मृत्यु का अवसर सन्निकट आने पर संलेखना करके अंतिम आराधना करना।

33. आशातनाएँ निम्नलिखित हैं-

(1) शैक्ष-नवदीक्षित या अल्प दीक्षापर्याय वाले साधु का रात्रिक-अधिक दीक्षापर्याय वाले साधु के अति निकट होकर गमन करना।

(2) शैक्ष का रात्रिक साधु के आगे-आगे गमन करना।

(3) शैक्ष का रात्रिक के साथ बराबरी से चलना।

(4) शैक्ष का रात्रिक के आगे खड़ा होना।

(5) शैक्ष का रात्रिक के साथ बराबरी से खड़ा होना।

(6) शैक्ष का रात्रिक के अति निकट खड़ा होना।

(7) शैक्ष का रात्रिक साधु के आगे बैठना।

(8) शैक्ष का रात्रिक के साथ बराबरी से बैठना।

(9) शैक्ष का रात्रिक के अति समीप बैठना।

(10) शैक्ष, रात्रिक के साथ स्थंडिलभूमि जाए और रात्रिक से पहले ही शौच-शुद्धि कर ले।

(11) शैक्ष, रात्रिक के साथ विचारभूमि या विहारभूमि जाए और रात्रिक से पहले ही आलोचना कर ले।

(12) कोई मनुष्य दर्शनादि के लिए आया हो और रात्रिक के बात करने से पहले ही शैक्ष द्वारा बात करना।

(13) रात्रि में रात्रिक के पुकारने पर जागता हुआ भी न बोले।

(14) आहारादि लाकर पहले अन्य साधु के समक्ष आलोचना करे, बाद में रात्रिक के समक्ष।

(15) आहारादि लाकर पहले अन्य साधु को और बाद में रात्रिक साधु को दिखलाना।

(16) आहारादि के लिए पहले अन्य साधुओं को निमंत्रित करना और बाद में रत्नाधिक को।

(17) रत्नाधिक से पूछे बिना अन्य साधुओं को आहारादि देना।

(18) रात्रिक साधु के साथ आहार करते समय मनोज्ञ, सरस वस्तु अधिक

एवं जल्दी-जल्दी खाए।

(19) रत्नाधिक के पुकारने पर उनकी बात अनसुनी करना।

(20) रत्नाधिक के कुछ कहने पर अपने स्थान पर बैठे-बैठे सुनना और उत्तर देना।

(21) रत्नाधिक के कुछ कहने पर 'क्या कहा?' इस प्रकार पूछना।

(22) रत्नाधिक के प्रति 'तू, तुम' ऐसे तुच्छतापूर्ण शब्दों का व्यवहार करना।

(23) रत्नाधिक के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करे, उद्गण्डतापूर्वक बोले, अधिक बोले।

(24) 'जी हाँ' आदि शब्दों द्वारा रात्रिक की धर्मकथा का अनुमोदन न करना।

(25) धर्मकथा के समय रात्रिक को टोकना, 'आपको स्मरण नहीं' इस प्रकार के शब्द कहना।

(26) धर्मकथा कहते समय रात्रिक को 'बस करो' इत्यादि कहकर कथा समाप्त करने के लिए कहना।

(27) धर्मकथा के अवसर पर परिषद् को भंग करने का प्रयत्न करे।

(28) रात्रिक साधु धर्मोपदेश कर रहे हों, सभा-श्रोतृगण उठे न हों, तब दूसरी-तीसरी बार वही कथा कहना।

(29) रात्रिक धर्मोपदेश कर रहे हो तब उनकी कथा का काट करना या बीच में स्वयं बोलने लगना।

(30) रात्रिक साधु की शय्या या आसन को पैर से टुकुराना।

(31) रत्नाधिक के समान-बराबरी पर आसन पर बैठना।

(32) रत्नाधिक के आसन से ऊँचे आसन पर बैठना।

(33) रत्नाधिक के कुछ कहने पर अपने आसन पर बैठे-बैठे ही उतर देना।

इन आशातनाओं से मोक्षमार्ग की विराधना होती है, अतएव ये वर्जनीय हैं।

33. सुरेन्द्र बत्तीस हैं-भवनपतियों के 20, वैमानिकों के 10 तथा ज्योतिष्कों के दो-चन्द्रमा और सूर्य। (इनमें एक नरेन्द्र अर्थात् चक्रवर्ती को सम्मिलित कर देने से 33 संख्या की पूर्ति हो जाती है।)

(उल्लिखित) एक से प्रारंभ करके तीन अधिक तीस अर्थात् तैतीस संख्या हो जाती है। इन सब संख्या वाले पदार्थों में तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थों में, जो



जिनेश्वर द्वारा प्ररूपित हैं तथा शाश्वत अवस्थित और सत्य हैं, किसी प्रकार की शंका या कांक्षा न करके हिंसा आदि से निवृत्ति करनी चाहिए एवं विशिष्ट एकाग्रता धारण करनी चाहिए। इस प्रकार निदान-नियाणा से रहित होकर, ऋद्धि आदि के गौरव-अभिमान से दूर रहकर, अलुब्ध-निर्लोभ होकर तथा मूढ़ता त्याग कर जो अपने मन, वचन और काय को संवृत्त करता हुआ श्रद्धा करता है, वही वास्तव में साधु है।

**विवेचन**-मूल पाठ स्पष्ट है और आवश्यकतानुसार उसका विवेचन अर्थ में साथ ही कर दिया गया है। इस पाठ का आशय यही है कि वीतराग देव ने जो भी हेय, उपादेय या ज्ञेय तत्त्वों का प्रतिपादन किया है, वे सब सत्य हैं, उनमें शंका-कांक्षा करने का कोई कारण नहीं है। अतएव हेय को त्याग कर, उपादेय को ग्रहण करके और ज्ञेय को जानकर विवेकपूर्वक-अमूढ़ भाव से प्रवृत्ति करनी चाहिए। साधु को इन्द्रादि पद की या भविष्य के भोगादि की अकांक्षा से रहित, निरभिमान, अलोलुप और संवरमय मन, वचन, काय वाला होना चाहिए।

### **धर्म-वृक्ष का रूपक-**

155-श्रीवीरवर-महावीर भगवान् के वचन-आदेश से की गई परिग्रह निवृत्ति के विस्तार से यह संवरवर-पादप अर्थात् अपरिग्रह नामक अंतिम संवरद्वार बहुत प्रकार का है। सम्यग्दर्शन इसका विशुद्ध-निर्दोष मूल है। धृति-चित्त की स्थिरता इसका कंद है। विनय इसकी वेदिका-चारों ओर का परिकर है। तीनों लोकों में फैला हुआ विपुल यश इसका सघन, महान् और सुनिर्मित स्कंध (तना) है। पाँच महाव्रत इसकी विशाल शाखाएँ हैं। अनित्यता, अशरणता आदि भावनाएँ इस संवरवृक्ष की त्वचा है। धर्मध्यान, शुभयोग तथा ज्ञान रूपी पल्लवों के अंकुरों को यह धारण करने वाला है। बहुसंख्यक उत्तरगुण रूपी फूलों से यह समृद्ध है। यह शील के सौरभ से सम्पन्न है और वह सौरभ ऐहिक फल की वांछा से रहित सत्प्रवृत्तिरूप है। यह संवरवृक्ष अनास्रव-कर्मास्रव के निरोध रूप फलों वाला है। मोक्ष ही इसका उत्तम बीजसार-मीजी है। यह मेरु पर्वत के शिखर पर चूलिका के समान मोक्ष-कर्मक्षय के निर्लोभतास्वरूप मार्ग का शिखर है। इस प्रकार का अपरिग्रह रूप उत्तम संवरद्वार रूपी जो वृक्ष है, वह अंतिम संवरद्वार है।

**विवेचन**-अपरिग्रह पाँच संवरद्वारों में अंतिम संवरद्वार है। सूत्रकार ने इस संवरद्वार को वृक्ष का रूपक देकर आलंकारिक भाषा में सुंदर रूप से वर्णित किया है।

वर्णन का आशय मूलार्थ से ही समझा जा सकता है।

### अकल्पनीय-अनाचरणीय-

156-ग्राम, आकर, नगर, खेड, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन अथवा आश्रम में रहा हुआ कोई भी पदार्थ हो, चाहे वह अल्प मूल्य वाला हो या बहुमूल्य हो, प्रमाण में छोटा हो अथवा बड़ा हो, वह भले त्रसकाय-शंख आदि हो या स्थावरकाय-रत्न आदि हो, उस द्रव्यसमूह को मन से भी ग्रहण करना नहीं कल्पता, अर्थात् उसे ग्रहण करने की इच्छा करना भी योग्य नहीं है। चाँदी, सोना, क्षेत्र (खुली भूमि), वास्तु (मकान-दुकान आदि) भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। दासी, दास, भृत्य-नियत वृत्ति पाने वाला सेवक, प्रेष्य-संदेश ले जाने वाला सेवक, घोड़ा, हाथी, बैल आदि भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। यान-रथ, गाड़ी आदि युग्य-डोली आदि, शयन आदि और छत्र-छाता आदि भी ग्रहण करना नहीं कल्पता, न जूता, न वीजना-पंखा और तालवृत्त-ताड़ का पंखा-ग्रहण करना कल्पता है। लोहा, रंगा, तांबा, सीसा, कांसा, चाँदी, सोना, मणि और मोती का आधार सीपसम्पुट, शंख, उत्तम दाँत, सींग, शैल-पाषाण (या पाठान्तर के अनुसार लेस अर्थात् श्लेष द्रव्य), उत्तम काँच, वस्त्र और चर्मपात्र-इन सबको भी ग्रहण करना नहीं कल्पता। ये सब मूल्यवान् पदार्थ दूसरे के मन में ग्रहण करने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न करते हैं, आसक्तिजनक हैं, इन्हें संभालने और बढ़ाने की इच्छा उत्पन्न करते हैं, अर्थात् किसी स्थान पर पूर्वोक्त पड़े पदार्थ देखकर दूसरे लोग इन्हें उठा लेने की अभिलाषा करते हैं, उनके चित्त में इनके प्रति मूर्च्छाभाव उत्पन्न होता है, वे इनकी रक्षा और वृद्धि करना चाहते हैं, किन्तु साधु को नहीं कल्पता कि वह इन्हें ग्रहण करें। इसी प्रकार पुष्प, फल, कंद, मूल आदि तथा सन जिनमें सत्तरहवाँ है, ऐसे समस्त धान्यों को भी परिग्रहत्यागी साधु औषध, भैजष्य या भोजन के लिए त्रियोग-मन, वचन, काय से ग्रहण न करे।

नहीं ग्रहण करने का क्या कारण है?

अपरिमित-अनंत ज्ञान और दर्शन के धारक, शील-चित्त की शांति, गुण-अहिंसा आदि, विनय, तप और संयम के नायक, जगत् के समस्त प्राणियों पर वात्सल्य धारण करने वाले, त्रिलोक-पूजनीय, तीर्थकर जिनेन्द्र देवों ने अपने केवलज्ञान से देखा है कि ये पुष्प, फल आदि त्रस जीवों की योनि-उत्पत्ति स्थान हैं। योनि का उच्छेद-विनाश करना योग्य नहीं है। इसी कारण श्रमणसिंह-उत्तम मुनि पुष्प, फल

आदि का परिवर्जन करते हैं।

**विवेचन**-प्रस्तुत पाठ में स्पष्ट किया गया है कि ग्राम, आकर, नगर, निगम आदि किसी भी बस्ती में कोई भी वस्तु पड़ी हो तो अपरिग्रही साधु को उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, साधु का मन इस प्रकार सधा हुआ होना चाहिए कि उसे ऐसे किसी पदार्थ को ग्रहण करने की इच्छा ही न हो! ग्रहण न करना एक बात है, वह साधारण साधना का फल है, किन्तु ग्रहण करने की अभिलाषा ही उत्पन्न न होना उच्च साधना का फल है। मुनि का मन इतना समभावी, मूर्च्छाविहीन एवं नियंत्रित रहे कि वह किसी भी वस्तु को कहीं भी पड़ी देखकर न ललचाए। जो स्वर्ण, रजत, मणि, मोती आदि बहुमूल्य वस्तुएँ अथवा अल्प मूल्य होने पर भी सुखकर-आरामदेह वस्तुएँ दूसरे को मन में लालच उत्पन्न करती हैं, मुनि उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखे। उसे ऐसी वस्तुओं को ग्रहण करने की अभिलाषा ही न हो।

फिर सचित्त पुष्प, फल, कंद, मूल आदि पदार्थ तो त्रस जीवों की उत्पत्ति के स्थान है और योनि को विध्वस्त करना मुनि को कल्पता नहीं है। इस कारण ऐसे पदार्थों के ग्रहण से वह सदैव बचता है।

### **सन्निधि-त्याग-**

157-और जो भी ओदन-कूर, कुल्माष-भड़द या थोड़े उबाले मूँग आदि गंज-एक प्रकार का भोज्य पदार्थ, तर्पण-सत्तू, मंथु-बोर आदि का चूर्ण-आटा, भूजी हुई धानी-लाई, पलल-तिल के फूलों का पिष्ट, सूप-दाल, शष्कुली-तिलपपड़ी, वेष्टिम-जलेबी, इमरती आदि, वरसरक नामक भोज्य वस्तु, चूर्णकोश-खाद्य विशेष, गुड़ आदि का पिण्ड, शिखरिणी-दही में शक्कर आदि मिलाकर बनाया गया भोज्य-श्रीखंड, वट्ट-वड़ा, मोदक-लड्डू, दूध, दही, घी, मक्खन, तेल, खाजा, गुड़, खाँड, मिश्री, मधु, मद्य, माँस और अनेक प्रकार के व्यंजन-शाक, छाछ आदि वस्तुओं का उपाश्रय में, अन्य किसी के घर में अथवा अटवी में सुविहित-परिग्रहत्यागी, शोभन आचार वाले साधुओं को संचय करना नहीं कल्पता है।

**विवेचन**-उल्लिखित पाठ में खाद्य पदार्थों का नामोल्लेख किया गया है। तथापि सुविहित साधु को इनका संचय करके रखना नहीं कल्पता है। कहा है-

**बिडमुब्भेइयं लोणं, तेल्लं सपिं च फाणियं।**

**ण ते सन्निहिमिच्छंति, नायपुत्तवए स्यात्।।**

अर्थात् सभी प्रकार के नमक, तेल, घृत, तिल-पपड़ी आदि किसी भी प्रकार के खाद्य पदार्थ का वे साधु संग्रह नहीं करते जो ज्ञातपुत्र-भगवान् महावीर के वचनों में रत हैं।

संचय करने वाले साधु को शास्त्रकार गृहस्थ की कोटि में रखते हैं। संचय करना गृहस्थ का कार्य है, साधु का नहीं। साधु तो पक्षी के समान वृत्ति वाले होते हैं। उन्हें यह चिंता नहीं होती कि कल आहार प्राप्त होगा अथवा नहीं! कौन जाने कल आहार मिलेगा अथवा नहीं, ऐसी चिंता से ही संग्रह किया जाता है, किन्तु साधु तो लाभ-अलाभ में समभाव वाला होता है। अलाभ की स्थिति को वह तपश्चर्यारूप लाभ का कारण मानकर लेशमात्र भी खेद का अनुभव नहीं करता। संग्रहवृत्ति से अन्य भी अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होने की संभावना रहती है। एक ही बार में पर्याप्त से अधिक आहार लाने से प्रमादवृत्ति आ सकती है। सरस आहार अधिक लाकर रख लेने से लोलुपता उत्पन्न हो सकती है, आदि। अतएव साधु को किसी भी भोज्य वस्तु का संग्रह न करने का प्रतिपादन यहाँ किया गया है। परिग्रह-त्यागी मुनि के लिए सर्वथा अनिवार्य है।

158-इसके अतिरिक्त जो आहार औद्देशिक हो, स्थापित हो, रचित हो, पर्यवजात हो, प्रकीर्ण, प्रादुष्करण, प्रामित्य, मिश्रजात, क्रीतकृत, प्राभृत दोष वाला हो, जो दान के लिए या पुण्य के लिए बनाया गया हो, जो पाँच प्रकार के श्रमणों अथवा भिखारियों को देने के लिए तैयार किया गया हो, जो पश्चात्कर्म अथवा पुरःकर्म दोष से दूषित हो, जो नित्यकर्म-दूषित हो, जो भ्रक्षित, अतिरिक्त मौखर, स्वयंग्राह अथवा आहत हो, मृत्तिकोपलिप्त, आच्छेद्य, अनिसृष्ट हो अथवा जो आहार मदनत्रयोदशी आदि विशिष्ट तिथियों में यज्ञ और महोत्सवों में, उपाश्रय के भीतर या बाहर साधुओं को देने के लिए रखा हो, जो हिंसा-सावद्य दोष से युक्त हो, ऐसा भी आहार साधु को लेना नहीं कल्पता है।

**विवेचन**-पूर्व पाठ में बतलाया गया था कि आहार की सन्निधि करना अर्थात् संचय करना अपरिग्रही साधु को नहीं कल्पता, क्योंकि संचय परिग्रह है और यह अपरिग्रह धर्म से विपरीत है। प्रकृत पाठ में प्रतिपादित किया गया है कि भले ही संचय के लिए न हो, तत्काल उपयोग के लिए हो, तथापि सूत्र में उल्लिखित दोषों में से किसी भी दोष से दूषित हो तो भी वह आहार, मुनि के लिए ग्राह्य नहीं है। इन दोषों का अर्थ

इस प्रकार है-

**उद्दिष्ट**-सामान्यतः किसी भी साधु के लिए बनाया गया।

**स्थापित**-साधु के लिए रख छोड़ा गया।

**रचित**-साधु के निमित्त मोदक आदि को तपाकर पुनः मोदक आदि के रूप में तैयार किया गया।

**पर्यवजात**-साधु को उद्देश्य करके एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदला हुआ।

**प्रकीर्ण**-धरती पर गिराते या टपकाते हुए दिया जाने वाला आहार।

**प्रादुष्करण**-अंधेरे में रखे आहार को प्रकाश करके देना।

**प्रामित्य**-साधु के निमित्त उधार लिया गया आहार।

**मिश्रजात**-साधु को गृहस्थ या अपने लिए सम्मिलित बनाया हुआ आहार।

**क्रीतकृत**-साधु के लिए खरीदकर बनाया गया।

**प्राभृत**-साधु के निमित्त अग्नि में ईंधन डालकर उसे प्रज्वलित करके अथवा ईंधन निकालकर अग्नि मंद करके दिया गया आहार।

**दानार्थ**-दान के लिए बनाया गया।

**पुण्यार्थ**-पुण्य के लिए बनाया गया।

**श्रमणार्थ**-श्रमण पाँच प्रकार के माने गए हैं-(1) निर्ग्रंथ (2) शाक्य-बौद्धमतानुयायी (3) तापस-तपस्या की विशेषता वाले (4) गेरुक-गेरुआ वस्त्र धारण करने वाले और (5) आजीविक-गोशालक के अनुयायी। इन श्रमणों के लिए बनाया गया आहार श्रमणार्थ कहलाता है।

**वनीपकार्थ**-भिखारियों के अर्थ बनाया गया। टीकाकार ने वनीपक का पर्यायवाची शब्द 'तर्कुक' लिखा है।

**पश्चात्कर्म**-दान के पश्चात् बर्तन धोना आदि सावद्य क्रिया वाला आहार।

**पुरःकर्म**-दान से पूर्व हाथ धोना आदि सावद्य कर्म वाला आहार।

**नित्यकर्म**-सदाव्रत की तरह जहाँ सदैव साधुओं को आहार दिया जाता हो अथवा प्रतिदिन एक घर से लिया जाने वाला आहार।

**भक्षित**-सचित्त जल आदि से लिप्त हाथ अथवा पात्र से दिया जाने वाला आहार।

**अतिरिक्त**-प्रमाण से अधिक।

**मौख्य**-वाचालता-अधिक बोलकर प्राप्त किया जाने वाला।

**स्वयंग्राह**-स्वयं अपने हाथ से लिया जाने वाला।

**आहत**-अपने गाँव या घर से साधु के समक्ष लाया गया।

**मृत्तिकालिप्त**-मिट्टी आदि से लिप्त।

**आच्छेद्य**-निर्बल से छीनकर दिया जाने वाला।

**अनिसृष्ट**-अनेकों के स्वामित्व की वस्तु उन सबकी अनुमति के बिना दी जाए।

उल्लिखित आहार संबंधी दोषों में से अनेक दोष उद्गम-उत्पादना संबंधी दोषों में गर्भित हैं। तथापि अधिक स्पष्टता के लिए यहाँ उनका भी निर्देश कर दिया गया है। पूर्वोक्त दोषों में से किसी भी दोष से युक्त आहार सुविहित साधुओं के लिए कल्पनीय नहीं होता।

### **कल्पनीय भिक्षा-**

159-प्रश्न-तो फिर किस प्रकार का आहार साधु के लिए ग्रहण करने योग्य है?

उत्तर-जो आहारादि एकादश पिण्डपात से शुद्ध हो, अर्थात् आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के पिण्डैषणा नामक प्रथम अध्ययन के ग्यारह उद्देशकों में प्ररूपित दोषों से रहित हो, जो खरीदना, हनन करना-हिंसा करना और पकाना, इन तीन क्रियाओं से कृत, कारित और अनुमोदन से निष्पन्न नौ कोटियों से पूर्ण रूप से शुद्ध हो, जो एषणा के दस दोषों से रहित हो, जो उद्गम और उत्पादना रूपेषणा अर्थात् गवेषणा और ग्रहणैषणा रूप एषणा दोष से रहित हो, जो सामान्य रूप से निर्जीव हुए, जीवन से च्युत हो गया हो, आयु क्षय के कारण जीवन क्रियाओं से रहित हो, शरीरोपचय से रहित हो, अतएव जो प्रासुक-अचेतन हो चुका हो, जो आहार संयोग और अंगार नामक मण्डल-दोष से रहित हो, जो आहार की प्रशंसा रूप धूम-दोष से रहित हो, जो छह कारणों में से किसी कारण से ग्रहण किया गया हो और छह कार्यों की रक्षा के लिए स्वीकृत किया गया हो, ऐसे प्रासुक आहारादि से प्रतिदिन-सदा निर्वाह करना चाहिए।

**विवेचन**-पूर्व में बतलाया गया था कि किन-किन दोष वाली भिक्षा साधु के

लिए ग्राह्य नहीं है। यह वक्तव्य भिक्षा संबंधी निषेध पक्ष को मुख्यतया प्रतिपादित करता है। किन्तु जब तक निषेध के साथ विधिपक्ष को प्रदर्शित न किया जाए तब तक सामान्य साधक के लिए स्पष्ट मार्गदर्शन नहीं होता। अतएव यहाँ भिक्षा के विधिपक्ष का निरूपण किया गया है। यह निरूपण प्रश्न और उत्तर के रूप में है।

प्रश्न किया गया है कि यदि साधुओं को अमुक-अमुक दोष वाली भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए तो कैसी भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए?

उत्तर है-आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के पिण्डैषणा नामक अध्ययन के ग्यारह उद्देशकों में कथित समस्त दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इन उद्देशकों में आहार संबंधी समस्त दोषों का कथन समाविष्ट हो जाता है। इस शास्त्र में भी उनका निरूपण किया जा चुका है। अतएव यहाँ पुनः उल्लेख करना अनावश्यक है।

**नवकोटिविशुद्ध आहार-साधु के निमित्त खरीदी गई, खरीदवाई गई और खरीद के लिए अनुमोदित की गई, इसी प्रकार हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने से तैयार की गई, और पकाना, पकवाना तथा पकाने की अनुमोदना करने से निष्पन्न हुई भिक्षा अग्राह्य है। इनसे रहित भिक्षा ग्राह्य है।**

एषणा एवं मंडल संबंधी दोषों का वर्णन पहले किया जा चुका है।

**आहारग्रहण के छह निमित्त-साधु शरीर पोषण अथवा रसनेन्द्रिय के आनंद के अर्थ आहार ग्रहण नहीं करते। शास्त्र में छह कारणों में से कोई एक या अनेक कारण उपस्थित होने पर आहार ग्रहण करने का विधान किया गया है, जो इस प्रकार हैं-**

**वेयण-वेयावच्चे ईरियट्टाए य संजमट्टाए।**

**तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए।।**

अर्थात्- (1) क्षुधावेदनीय कर्म की उपशांति के लिए (2) वैयावृत्य (आचार्यादि गुरुजनों की सेवा) का सामर्थ्य बना रहे, इस प्रयोजन के लिए (3) ईर्यासमिति का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिए (4) संयम का पालन करने के लिए (5) प्राणरक्षा-जीवन निर्वाह के लिए और (6) धर्मचिंतन के लिए (आहार करना चाहिए)।

**छह काय-पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावर और द्वीन्द्रियादि त्रस, ये छह काय हैं। समस्त संसारवर्ती जीव इन छह भेदों में गर्भित हो जाते हैं। अतएव षट्काय की रक्षा**

का अर्थ है-समस्त सांसारिक जीवों की रक्षा। इनकी रक्षा के लिए और रक्षा करते हुए आहार कल्पनीय होता है।

160-सुविहित-आगमानुकूल चारित्र का परिपालन करने वाले साधु को यदि अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोग और आतंक-जीवन को संकट या कठिनाई में डालने वाली व्याधि उत्पन्न हो जाए, वात, पित्त या कफ का अतिशय प्रकोप हो जाए, अथवा सन्निपात-उक्त दो या तीनों दोषों का एक साथ प्रकोप हो जाए और इसके कारण उज्ज्वल अर्थात् सुख के लेशमात्र से रहित, प्रबल, विपुल-दीर्घकाल तक भोगने योग्य (या त्रितुल-तीनों योगों को तोलने वाले-कष्टमय बना देने वाले), कर्कश-अनिष्ट एवं प्रगाढ़ अर्थात् अत्यंत तीव्र दुःख उत्पन्न हो जाए और वह दुःख अशुभ या कटुक द्रव्य के समान असुख-अनिष्ट रूप हो, परुष-कठोर हो, दुःखमय दारुण फल वाला हो, महान् भय उत्पन्न करने वाला हो, जीवन का अंत करने वाला और समग्र शरीर में परिताप उत्पन्न करने वाला हो, तो ऐसा दुःख उत्पन्न होने की स्थिति में भी स्वयं अपने लिए अथवा दूसरे साधु के लिए औषध, भैषज्य, आहार तथा पानी का संचय करके रखना नहीं कल्पता है।

**विवेचन-**पूर्ववर्ती पाठ में सामान्य अवस्था में लोलुपता आदि के कारण आहारादि के संचय करने का निषेध किया गया था और प्रस्तुत पाठ में रोगादि की अवस्था में भी सन्निधि करने का निषेध किया गया है। यहाँ रोग के अनेक विशेषणों द्वारा उसकी तीव्रतमता प्रदर्शित की गई है। कहा गया है कि रोग अथवा आतंक इतना उग्र हो कि लेशमात्र भी चैन न लेने दे, बहुत बलशाली हो, थोड़े समय के लिए नहीं वरन् दीर्घ काल पर्यंत भोगने योग्य हो, अतीव कर्कश हो, तन और मन को भीषण व्यथा पहुँचाने वाला हो, यहाँ तक कि जीवन का अंत करने वाला भी क्यों न हो, तथापि साधु को ऐसी घोरतर अवस्था में आहार-पानी और औषध-भैषज्य का कदापि संग्रह नहीं करना चाहिए। संग्रह परिग्रह है और अपरिग्रही साधु के जीवन में संग्रह को कोई स्थान नहीं है।

### निर्ग्रन्थों का आंतरिक स्वरूप-

162-एवं से संजए विमुत्ते णिस्संगे णिप्परिग्गहरुई णिम्ममे णिण्णेहबंधणे सव्वपावविरए वासीचंदणसमाणकप्पे समतिणमणिमुत्तालेट्टुकंचणे समे य माणावमाणणाए समियरए समियरागदोसे समिए समिइसु सम्मदिट्ठी समे य जे सव्वपाणभूएसु से हु



समणे, सुयधारए उज्जुए संजए सुसाहू, सरणं सव्वभूयाणं सव्वजगवच्छले सच्चभासाए य संसारंतद्विए य संसारसमुच्छिण्णे सययं मरणाणुपारए, पारगे य सव्वेसिं संसयाणं पवयणमायाहिं अट्ठहिं अट्ठकम्म-गंठी-विमोयगे, अट्ठमय-महणे ससमयकुसले य भवइ सुहदुहणिव्विसेसे अब्भंतरबाहिरम्मि सया तवोवहाणम्मि सुट्ठुज्जुए खंते दंते य हियणिए ईरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाण-भंड-मत्त-णिक्खेवणा-समिए उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्ल-परिट्ठावणियासमिए मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंधारी चाई-लज्जू धण्णे तवस्सी खंतिखमे जिइंदिए सोहिए अणियाणे अबहिल्लेस्से अममे अकिंचणे छिण्णगंथे णिरुवलेवे।

162-इस प्रकार के आचार का परिपालन करने के कारण वह साधु संयमवान्, विमुक्त-धन-धान्यादि का त्यागी, निःसंग-आसक्ति से रहित, निष्परिग्रहरुचि-अपरिग्रह में रुचि वाला, निर्मम-ममता से रहित, निःस्नेहबंधन-स्नेह के बंधन से मुक्त, सर्वपापविरत-समस्त पापों से निवृत्त, वासी-चंदनकल्प अर्थात् उपकारक और अपकारक के प्रति समान भावना वाला, तृण, मणि, मुक्ता और मिट्टी के ढेले को समान मानने वाला अर्थात् अल्पमूल्य या बहुमूल्य पदार्थों की समान रूप से उपेक्षा करने वाला, सन्मान और अपमान में समता का धारक, शमितरज-पाप रूपी रज को उपशांत करने वाला या शमितरत-विष संबंधी रति को उपशांत करने वाला अथवा शमितरत-उत्सुकता को शांत कर देने वाला, राग-द्वेष को शांत करने वाला, ईर्या आदि पाँच समितियों से युक्त, सम्यग्दृष्टि और समस्त प्राणों-द्वीन्द्रियादि त्रस प्राणियों और भूतों-एकेन्द्रिय स्थावरों पर समभाव धारण करने वाला होता है। वही वास्तव में साधु है।

वह साधु श्रुत का धारक, ऋजु-निष्कपट-सरल अथवा उद्युक्त-प्रमादहीन और संयमी है। वह साधु समस्त प्राणियों के लिए शरणभूत होता है, समस्त जगद्वर्ती जीवों का वत्सल-हितैषी होता है। वह सत्यभाषी, संसार-जन्म-मरण के अंत में स्थित, संसार-भवपरंपरा का उच्छेद-अंत करने वाला, सदा के लिए (बाल) मरण आदि का पारगामी और सब संशयों का पारगामी-छेत्ता होता है। पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठ प्रवचनमाताओं के द्वारा आठ कर्मों की ग्रंथि को खोलने वाला-अष्ट कर्मों को नष्ट करने वाला, जातिमद, कुलमद आदि आठ मदों का मथन करने वाला एवं स्वसमय-स्वकीय सिद्धांत में निष्णात होता है। वह सुख-दुःख में विशेषता रहित अर्थात् सुख में हर्ष और दुःख में शोक से अतीत होता है-दोनों अवस्थाओं में समान

रहता है। आभ्यंतर और बाह्य तप रूप उपधान में सम्यक् प्रकार से उद्यत रहता है, क्षमावान्, इन्द्रिय विजेता, स्वकीय और परकीय हित में निरत, ईर्यासमिति से सम्पन्न, भाषासमिति में सम्पन्न, एषणासमिति से सम्पन्न, आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणसमिति से सम्पन्न और मल-मूत्र-श्लेष्म-संधान-नासिकामल-जल्ल-शरीरमल आदि के प्रतिष्ठापन की समिति से युक्त, मनोगुप्ति से, वचनगुप्ति से और कायगुप्ति से युक्त, विषयों की ओर उन्मुख इन्द्रियों का गोपन करने वाला, ब्रह्मचर्य की गुप्ति से युक्त, समस्त प्रकार के संग का त्यागी, रज्जु के समान सरल, तपस्वी, क्षमागुण के कारण सहनशील, जितेन्द्रिय, सदगुणों से शोभित या शोधित, निदान से रहित, चित्तवृत्ति को संयम की परिधि से बाहर न जाने देने वाला, ममत्व से विहीन, अकिंचन-संपूर्ण रूप से निर्द्रव्य, स्नेहबंधन को काटने वाला और कर्म के उपलेप से रहित होता है।

**विवेचन**-प्रस्तुत पाठ में साधु के आंतरिक जीवन का अत्यंत सुंदर एवं भव्य चित्र अंकित किया गया है। साधु के समग्र आचार को यहाँ सार के रूप में समाविष्ट कर दिया गया है। पाठ में पदों का अर्थ प्रायः सुगम है। कुछ विशिष्ट पदों का तात्पर्य इस प्रकार है-

**खंतिखमे**-साधु अनिष्ट प्रसंगों को, वध-बंधन आदि उपसर्गों या परीषदों को सहन करता है, किन्तु असमर्थता अथवा विवशता के कारण नहीं। उसमें क्षमा की वृत्ति इतनी प्रबल होती है अर्थात् ऐसी सहनशीलता होती है कि वह प्रतिकार करने में पूर्णरूपेण समर्थ होकर भी अनिष्ट प्रसंगों को विशिष्ट कर्मनिर्जरा के हेतु सह लेता है।

**आभ्यंतर-बाह्य तप उपधान**-टीकाकार अभयदेव सूरि के अनुसार आंतरिक शरीर अर्थात् कार्मण शरीर को संतप्त-विनष्ट करने वाला प्रायश्चित्त आदि षड्विध तप आभ्यंतर तप कहलाता है और बाह्य शरीर अर्थात् औदारिक शरीर को तपाने वाला अनशन आदि छह प्रकार का तप बाह्य तप कहलाता है।

**छिन्नगंधे** के स्थान पर टीकाकार ने **छिन्नसोए** पाठान्तर का उल्लेख किया है। इसका अर्थ छिन्नशोक अर्थात् शोक को छेदन कर देने वाला-किसी भी स्थिति में शोक का अनुभव न करने वाला अथवा छिन्नश्रोत अर्थात् स्रोतों को स्थगित कर देने वाला है। श्रोत दो प्रकार के हैं-द्रव्यश्रोत और भावश्रोत। नदी आदि का प्रवाह द्रव्यश्रोत है और संसार-समुद्र में गिराने वाला अशुभ लोक-व्यवहार भावश्रोत है।

**निरुपलेप**-का आशय है-कर्म-लेप से रहित। किन्तु मुनि कर्मलेप से रहित

नहीं होते। सिद्ध भगवान् ही कर्म-लेप से रहित होते हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ मुनि के लिए 'निरुपलेप' विशेषण का प्रयोग किस अभिप्राय से किया गया है? इस प्रश्न का उत्तर टीका में दिया गया है- 'भाविनि भूतवदुपचारमाश्रित्योच्यते' अर्थात् ऐसा साधक भविष्य में कर्मलेप से रहित होगा ही, अतएव भावी अर्थ में भूतकाल का उपचार करके इस विशेषण का प्रयोग किया गया है।

निर्ग्रथों की 31 उपमाएँ-

163-सुविमलवरकंसभायणं व मुक्कतोए।

संखे विव णिरंजणे, विगयरागदोसमोहे।

कुम्भो विव इंदिएसु गुत्ते।

जच्चकंचणगं व जायरूवे।

पोक्खरपत्तं व णिरुवलेवे।

चंदो विव सोमभावयाए।

सूरो व्व दित्ततेए।

अचले जह मंदरे गिरिवरे।

अक्खोभे सागरो व्व थिमिए।

पुढवी व्व सव्वफाससहे।

तवसा च्विय भासरासि-छण्णिव्व जायतेए।

जलियहुयासणे विव तेयसा जलंते।

गोसीसं चंदणं विव सीयले सुगंधे य।

हरयो विव समियभावे।

उग्घसियसुणिम्मलं व आर्यंसमंडलतलं पागडभावेण सुद्धभावे।

सोंडीरे कुंजरोव्व।

वसभेव्व जायथामे।

सीहेव्व जहा मियाहिवे होइ दुप्पधरिसे।

सारयसलिलं व सुद्धहियए।

भारंडे चेव अप्पमत्ते।

खग्गिविसाणं व एगजाए।

खाणुं चेव उडुकाए।  
 सुण्णागारेव्व अपडिकम्मे।  
 सुण्णागारावणस्संतो णिवायसरणप्पदीवज्झाणमिव णिप्पकंपे।  
 जहा खुरो चेव एगधारे।  
 जहा अही चेव एगदिट्ठी।  
 आगासं चेव णिरालंबे।  
 विहगे विव सव्वओ विप्पमुक्के।  
 कयपरणिलए जहा चेव उरए।  
 अप्पडिबद्धे अणिलोव्व।  
 जीवो व्व अपडिहयगई।

163-मुनि आगे कही जाने वाली उपमाओं से मण्डित होता है-

(1) कांसे का अत्यंत निर्मल उत्तम पात्र जैसे जल के संपर्क से मुक्त रहता है, वैसे ही साधु रागादि के बंध से मुक्त होता है।

(2) शंख के समान निरंजन अर्थात् रागादि के कालुष्य से रहित, अतएव राग, द्वेष और मोह से रहित होता है।

(3) कूर्म-कच्छप की तरह इन्द्रियों का गोपन करने वाला।

(4) उत्तम शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त।

(5) कमल के पत्ते के सदृश निर्लेप।

(6) सौम्य-शीतल स्वभाव के कारण चन्द्रमा के समान।

(7) सूर्य के समान तपस्तेज से देदीप्यमान।

(8) गिरिवर मेरु के समान अचल-परीषह आदि में अडिग।

(9) सागर के समान क्षोभरहित एवं स्थिर।

(10) पृथ्वी के समान समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल स्पर्शों को सहन करने वाला।

(11) तपश्चर्या के तेज से अंतरंग में ऐसा दीप्त जैसे भस्मराशि से आच्छादित अग्नि हो।

(12) प्रज्ज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्विता से देदीप्यमान।

(13) गोशीर्ष चंदन की तरह शीतल और अपने शील के सौरभ से युक्त।

- (14) हृद-(पवन के न होने पर) सरोवर के समान प्रशांत भाव वाला।
- (15) अच्छी तरह घिसकर चमकाए हुए निर्मल दर्पण तल के समान स्वच्छ, प्रकट रूप से माया रहित होने के कारण अतीव निर्मल जीवन वाला-शुद्ध भाव वाला।
- (16) कर्म-शत्रुओं को पराजित करने में गजराज की तरह शूरवीर।
- (17) वृषभ की तरह अंगीकृत व्रत-भार का निर्वाह करने वाला।
- (18) मृगाधिपति सिंह के समान परीषहादि से अजेय।
- (19) शरत्कालीन जल के सदृश स्वच्छ हृदय वाला।
- (20) भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त-सदा सजग।
- (21) गेंडे के सींग के समान अकेला-अन्य की सहायता की अपेक्षा न रखने वाला।
- (22) स्थाणु (ठूँठ) की भाँति ऊर्ध्वकाय-कायोत्सर्ग में स्थित।
- (23) शून्यगृह के समान अप्रतिकर्म, अर्थात् जैसे सुनसान पड़े घर को कोई सजाता-संवारता नहीं, उसी प्रकार शरीर की साज-सज्जा से रहित।
- (24) वायुरहित घर में स्थित प्रदीप की तरह विविध उपसर्ग होने पर भी शुभ ध्यान में निश्चल रहने वाला।
- (25) छुरे की तरह एक धार वाला, अर्थात् एक उत्सर्ग मार्ग में ही प्रवृत्ति करने वाला।
- (26) सर्प के समान एक दृष्टि वाला, अर्थात् सर्प जैसे अपने लक्ष्य पर ही नजर रखता है, उसी प्रकार मोक्ष साधना की ओर ही एकमात्र दृष्टि रखने वाला।
- (27) आकाश के समान किसी का सहारा न लेने वाला-स्वावलंबी।
- (28) पक्षी के सदृश विप्रमुक्त-पूर्ण निष्परिग्रह।
- (29) सर्प के समान दूसरों के लिए निर्मित स्थान में रहने वाला।
- (30) वायु के समान अप्रतिबद्ध-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबंध से मुक्त।
- (31) देहविहीन जीव के समान बेरोकटोक (अप्रतिहत) गति वाला-स्वेच्छापूर्वक यत्र-तत्र विचरण करने वाला।

**विवेचन-**इन उपमाओं के द्वारा भी साधु जीवन की विशिष्टता, उज्ज्वलता, संयम के प्रति निश्चलता, स्वावलंबिता, अप्रमत्तता, स्थिरता, लक्ष्य के प्रति निरंतर सजगता, आंतरिक शुचिता, देह के प्रति अनासक्तता, संयमनिर्वाह संबंधी क्षमता

आदि का प्रतिपादन किया गया है। इन उपमाओं द्वारा फलित आशय स्पष्ट है। आगे भी मुनि जीवन की विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है।

पूर्व में प्रतिपादित किया गया कि साधु अप्रतिबद्धविहारी होता है। विहार के विषय में वह किसी बंधन से बंधा नहीं होता। अतएव यहाँ उसके विहार के संबंध में स्पष्ट उल्लेख करते हुए कतिपय अन्य गुणों पर प्रकाश डाला जा रहा है-

164-(मुनि) प्रत्येक ग्राम में एक रात्रि और प्रत्येक नगर में पाँच रात्रि तक विचरता रहता है, क्योंकि वह जितेन्द्रिय होता है, परीषहों को जीतने वाला, निर्भय, विद्वान्-गीतार्थ, सचित्त-सजीव, अचित्त-निर्जीव और मिश्र-आभूषणयुक्त दास आदि मिश्रित द्रव्यों में वैराग्ययुक्त होता है, वस्तुओं का संचय करने से विरत होता है, मुक्त-निर्लोभवृत्ति वाला, लघु अर्थात् तीनों प्रकार के गौरव से रहित और परिग्रह के भार से रहित होता है। जीवन और मरण की आशा-आकांक्षा से सर्वथा मुक्त रहता है, चारित्र-परिणाम के विच्छेद से रहित होता है, अर्थात् उसका चारित्र-परिणाम निरंतर विद्यमान रहता है, कभी भग्न नहीं होता। वह निरतिचार-निर्दोष चारित्र का धैर्यपूर्वक शारीरिक क्रिया द्वारा पालन करता है। ऐसा मुनि सदा अध्यात्मध्यान में निरत, उपशांत भाव तथा एकाकी-सहायक रहित अथवा रागादि से असंपृक्त होकर धर्म का आचरण करे।

परिग्रहविरमणव्रत के परिरक्षण के हेतु भगवान् ने यह प्रवचन-उपदेश कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकारी है, आगामी भवों में उत्तम फल देने वाला है और भविष्य में कल्याण करने वाला है। यह शुद्ध, न्याययुक्त, अकुटिल, सर्वोत्कृष्ट और समस्त दुःखों तथा पापों को सर्वथा शांत करने वाला है।

**विवेचन**-प्रकृत पाठ स्पष्ट और सुबोध है। केवल एक ही बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। मुनि को ग्राम में एक रात और नगर में पाँच रात तक टिकने का जो कथन यहाँ किया गया है, उसके विषय में टीकाकार ने लिखा है-

**‘एतच्च भिक्षुप्रतिमाप्रतिपन्नासाध्वपेक्षया सूत्रमवगन्तव्यम्।’**

-प्र.व्या. आगमोदय. पृ. 158

इसका आशय यह है कि यह सूत्र अर्थात् विधान उस साधु के लिए जानना चाहिए जिसने भिक्षु प्रतिमा अंगीकार की हो। अर्थात् सब सामान्य साधुओं के लिए यह विधान नहीं है।

## अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ

### प्रथम भावना-श्रोत्रेन्द्रिय-संयम-

165-परिग्रहविरमणव्रत अथवा अपरिग्रहसंवर की रक्षा के लिए अंतिम व्रत अर्थात् अपरिग्रहमहाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। उनमें से प्रथम भावना (श्रोत्रेन्द्रियसंयम) इस प्रकार है-

श्रोत्रेन्द्रिय से, मन के अनुकूल होने के कारण भद्र-सुहावने प्रतीत होने वाले शब्दों को सुनकर (साधु को राग नहीं करना चाहिए)।

(प्रश्न-) वे शब्द कौनसे, किस प्रकार के हैं?

(उत्तर-) उत्तम मुरज-महामर्दल, मृदंग, पणव-छोटा पटह, दर्दुर-एक प्रकार का वह वाद्य जो चमड़े से मढ़े मुख वाला और कलश जैसा होता है, कच्छभी-वाद्यविशेष, वीणा, विपंची और वल्लकी (विशेष प्रकार की वीणाएँ), वदीसक-वाद्यविशेष, सुघोषा नामक एक प्रकार का घंटा, नंदी-बारह प्रकार के बाजों का निर्घोष, सूसरपरिवादिनी-एक प्रकार की वीणा, वंश-वांसुरी, तूणक एक पर्वक नामक वाद्य, तंत्री-एक विशेष प्रकार की वीणा, तल-हस्ततल, ताल-कांस्य-ताल, इन सब बाजों के नाद को (सुनकर) तथा नट, नर्तक, जल्ल-वांस या रस्सी के ऊपर खेल दिखलाने वाले, मल्ल, मुष्टिमल्ल, विडम्बक-विदूषक, कथक-कथा कहने वाले, प्लवक-उछलने वाले, रास गाने वाले आदि द्वारा किये जाने वाले नाना प्रकार की मधुर ध्वनि से युक्त सुस्वर गीतों को (सुनकर) तथा करधनी-कंदोरा, मेखला (विशिष्ट प्रकार की करधनी), कलापक-गले का एक आभूषण, प्रतरक और प्रहेरक नामक आभूषण, पादजालक-नूपुर आदि आभरणों के एवं घंटिका-घुंघरू, खिंखिनी-छोटी घंटियों वाला आभरण, रत्नोरुजालक-रत्नों का जंघा का आभूषण, क्षुद्रिका नामक आभूषण, नेउर-नूपुर, चरणमालिका तथा कनकनिगड नामक पैरों के आभूषण और जालक नामक आभूषण, इन सबकी ध्वनि-आवाज को (सुनकर) तथा लीलापूर्वक चलती हुई स्त्रियों की चाल से उत्पन्न (ध्वनि को) एवं तरुणी रमणियों के हास्य की, बोलों की तथा स्वर-घोलनायुक्त मधुर तथा सुंदर आवाज को (सुनकर) और स्नेही जनों द्वारा भाषित प्रशंसा-वचनों को एवं इसी प्रकार के मनोज्ञ एवं सुहावने वचनों को (सुनकर) उनमें साधु को आसक्त नहीं होना चाहिए, राग नहीं करना चाहिए, गृद्धि-अप्राप्ति की अवस्था में उनकी प्राप्ति की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, मुग्ध नहीं होना चाहिए,

उनके लिए स्व-पर का परिहनन नहीं करना चाहिए, लुब्ध नहीं होना चाहिए, तुष्ट-प्राप्ति होने पर प्रसन्न नहीं होना चाहिए, हँसना नहीं चाहिए, ऐसे शब्दों का स्मरण और विचार भी नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त श्रोत्रेन्द्रिय के लिए अमनोज्ञ-मन में अप्रीतिजनक एवं पापक-अभद्र शब्दों को सुनकर रोष (द्वेष) नहीं करना चाहिए।

(प्र.) वे शब्द-कौनसे-किस प्रकार के हैं?

(उ.) आक्रोश-तू मर जा इत्यादि वचन, परुष-अरे मूर्ख, इत्यादि वचन, खिंसना-निन्दा, अपमान, तर्जना-भयजनक वचन निर्भर्त्सना-सामने से हट जा, इत्यादि वचन, दीप्त-क्रोधयुक्त वचन, त्रास जनक वचन, उत्कूजित-अस्पष्ट उच्च ध्वनि, रुदनध्वनि, रटित-धाड़ मारकर रोने, क्रंदन-वियोगजनित विलाप आदि की ध्वनि, निर्घृष्ट-निर्घोषरूप ध्वनि, रसित-जानवर के समान चीत्कार, करुणाजनक शब्द तथा विलाप के शब्द-इन सब शब्दों में तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ एवं पापक-अभद्र शब्दों में साधु को रोष नहीं करना चाहिए, उनकी हीलना नहीं करनी चाहिए, निन्दा नहीं करनी चाहिए, जनसमूह के समक्ष उन्हें बुरा नहीं कहना चाहिए, अमनोज्ञ शब्द उत्पन्न करने वाली वस्तु का छेदन नहीं करना चाहिए, भेदन-टुकड़े नहीं करने चाहिए, उसे नष्ट नहीं करना चाहिए। अपने अथवा दूसरे के हृदय में जुगुप्सा उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय (संयम) की भावना से भावित अन्तःकरण वाला साधु मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ रूप शुभ-अशुभ शब्दों में राग-द्वेष के संवर वाला, मन-वचन और काय का गोपन करने वाला, संवरयुक्त एवं गुप्तेन्द्रिय-इन्द्रियों का गोपन-कर्ता होकर धर्म का आचरण करे।

### द्वितीय भावना-चक्षुरिन्द्रिय-संवर-

द्वितीय भावना चक्षुरिन्द्रिय का संवर है। वह इस प्रकार है-

चक्षुरिन्द्रिय से मनोज्ञ-मन को अनुकूल प्रतीत होने वाले एवं भद्र-सुंदर सचित्त द्रव्य, अचित्त द्रव्य और मिश्र-सचित्ताचित्त द्रव्य के रूपों को देखकर (राग नहीं करना चाहिए)। वे रूप चाहे काष्ठ पर हो, वस्त्र पर हो, चित्र-लिखित हो, मिट्टी आदि के लेप से बनाए गए हो, पाषण पर अंकित हो, हाथीदाँत आदि पर हो, पाँच वर्ण के और नाना प्रकार के आकार वाले हो, गूथकर माला आदि की तरह बनाए गए हो, वेष्टन से,



चपड़ी आदि भरकर अथवा संघात से-फूल आदि की तरह एक-दूसरे को मिलाकर बनाए गए हो, अनेक प्रकार की मालाओं के रूप हो और वे नयनों तथा मन को अत्यंत आनंद प्रदान करने वाले हो (तथापि उन्हें देखकर राग नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए।)

इसी प्रकार वनखण्ड, पर्वत, ग्राम, आकर, नगर तथा विकसित नील कमलों एवं (श्वेतादि) कमलों से सुशोभित और मनोहर तथा जिनमें अनेक हंस, सारस आदि पक्षियों के युगल विचरण कर रहे हो, ऐसे छोटे जलाशय, गोलाकार बावड़ी, चौकोर बावड़ी, दीर्घिका-लंबी बावड़ी, नहर, सरोवरों की कतार, सागर, बिलपंक्ति, लोहे आदि की खानों में खोदे हुए गड्ढों की पंक्ति, खाई, नदी, सर-बिना खोदे प्राकृतिक रूप से बने जलाशय, तडाग-तालाब, पानी की क्यारी (आदि को देखकर) अथवा उत्तम मण्डप, विविध प्रकार के भवन, तोरण, चैत्य-स्मारक, देवालय, सभा-लोगों के बैठने के स्थान विशेष, प्याऊ, आवसथ-परिव्राजकों के आश्रम, सुनिर्मित शयन-पलंग आदि, सिंहासन आदि आसन, शिविका-पालकी, रथ, गाड़ी, यान, युग्य-यानविशेष, स्यन्दन-घुंघरूदार रथ या सांग्रामिक रथ और नर-नारियों का समूह, ये सब वस्तुएँ यदि सौम्य हो, आकर्षक रूप वाली दर्शनीय हो, आभूषणों से अलंकृत और सुंदर वस्त्रों से विभूषित हो, पूर्व में की हुई तपस्या के प्रभाव से सौभाग्य को प्राप्त हो तो (इन्हें देखकर) तथा नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विदूषक, कथावाचक, प्लवक, रास करने वाले व वार्ता कहने वाले, चित्रपट लेकर भिक्षा माँगने वाले, बाँस पर खेल करने वाले, तूणइल्ल-तूणा बजाने वाले, तूम्बे की वीणा बजाने वाले एवं तालाचरों के विविध प्रयोग देखकर तथा बहुत से करतबों को देखकर (आसक्त नहीं होना चाहिए)। इस प्रकार के अन्य मनोज्ञ तथा सुहावने रूपों में साधु को आसक्त नहीं होना चाहिए, अनुरक्त नहीं होना चाहिए, यावत् उनका स्मरण और विचार भी नहीं करना चाहिए।

इसके सिवाय चक्षुरिन्द्रिय से अमनोज्ञ और पापकारी रूपों को देखकर (रोष नहीं करना चाहिए)।

(प्र.) वे (अमनोज्ञ रूप) कौनसे हैं?

(उ.) वात, पित्त, कफ और सन्निपात से होने वाले गंडरोग वाले को, अठारह प्रकार के कुष्ठ रोग वाले को, कुणि-कुंट-टोटे को, जलोदर के रोगी को, खुजली वाले

को, श्लीपद रोग के रोगी को, लंगड़े को, वामन-बौने को, जन्मान्ध को, एकचक्षु (काणे) को, विनिहत चक्षु को-जन्म के पश्चात् जिसकी एक या दोनों आँखें नष्ट हो गई हो, पिशाचग्रस्त को अथवा पीठ से सरक कर चलने वाले को, विशिष्ट चित्तपीड़ा रूप व्याधि या रोग से पीड़ित को (इनमें से किसी को देखकर) तथा विकृत मृतक-कलेवरों को या बिलबिलाते कीड़ों से युक्त सड़ी-गली द्रव्यराशि को देखकर अथवा इनके सिवाय इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ और पापकारी रूपों को देखकर श्रमण को उन रूपों के प्रति रुष्ट नहीं होना चाहिए, यावत् अवहीलना आदि नहीं करनी चाहिए और मन में जुगुप्सा-घृणा भी नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए।

इस प्रकार चक्षुरिन्द्रियसंवर रूप भावना से भावित अन्तःकरण वाला होकर मुनि यावत् धर्म का आचरण करे।

### तीसरी भावना-घ्राणेन्द्रिय-संयम-

167-घ्राणेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुहावना गंध सूँघकर (रागादि नहीं करना चाहिए)।

(प्र.) वे सुगंध क्या-कैसे हैं?

(उ.) जल और स्थल में उत्पन्न होने वाले सरस पुष्प, फल, पान, भोजन, उत्पलकुष्ठ, तगर, तमालपत्र, चोय-सुगंधित त्वचा, दमनक (एक विशेष प्रकार का फूल)-मरुआ, एलारस-इलायची का रस, पका हुआ मांसी नामक सुगंध वाला द्रव्य-जटामासी, सरस गोशीर्ष चंदन, कपूर, लवंग, अगर, कुंकुम, कक्कोल-गोलाकार सुगंधित फलविशेष, उशीर-खस, श्वेत, चंदन, श्रीखण्ड आदि द्रव्यों के संयोग से बनी श्रेष्ठ धूप की सुगंध को सूँघकर (रागभाव नहीं धारण करना चाहिए) तथा भिन्न-भिन्न ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले कालोचित सुगंध वाले एवं दूर-दूर तक फैलने वाली सुगंध से युक्त द्रव्यों में और इसी प्रकार की मनोहर, नासिका को प्रिय लगाने वाली सुगंध के विषय में मुनि को आसक्त नहीं होना चाहिए, यावत् अनुरागादि नहीं करना चाहिए। उनका स्मरण और विचार भी नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त घ्राणेन्द्रिय से अमनोज्ञ और असुहावने गंधों को सूँघकर (रोष आदि नहीं करना चाहिए)।

वे दुर्गंध कौनसे हैं?

मरा हुआ सर्प, मृत घोड़ा, मृत हाथी, मृत गाय तथा भेड़िया, कुत्ता, मनुष्य,

बिल्ली, श्रृगाल, सिंह और चीता आदि के मृतक सड़े-गले कलेवरों की, जिसमें कीड़े बिलबिला रहे हो, दूर-दूर तक बदबू फैलाने वाली गंध में तथा इसी प्रकार के और भी अमनोज्ञ और असुहावनी दुर्गंधों के विषय में साधु को रोष नहीं करना चाहिए यावत् इन्द्रियों को वशीभूत करके धर्म का आचरण करना चाहिए।

#### चतुर्थ भावना-रसनेन्द्रिय-संयम-

168-रसना-इन्द्रिय से मनोज्ञ एवं सुहावने रसों का आस्वादन करके (उनमें आसक्त नहीं होना चाहिए)।

(प्र.) वे रस क्या-कैसे हैं?

(उ.) घी-तैल आदि में डूबाकर पकाए हुए खाजा आदि पकवान, विविध प्रकार के पानक-द्राक्षापान आदि, गुड़ या शक्कर के बनाए हुए, तेल अथवा घी से बने हुए मालपूवा आदि वस्तुओं में, जो अनेक प्रकार के नमकीन आदि रसों से युक्त हो, मधु, माँस, बहुत प्रकार की मज्जिका, बहुत व्यय करके बनाया गया, दालिकाम्ल-खट्टी दाल, सैन्धाम्ल-रायता आदि, दूध, दही, सरक, मद्य, उत्तम प्रकार की वारुणी, सीधु तथा पिशाचन नामक मदिराएँ, अठारह प्रकार के शाक वाले ऐसे अनेक प्रकार के मनोज्ञ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त अनेक द्रव्यों से निर्मित भोजन में तथा इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ एवं सुहावने-लुभावने रसों में साधु को आसक्त नहीं होना चाहिए, यावत् उनका स्मरण तथा विचार भी नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त जिह्वा-इन्द्रिय से अमनोज्ञ और असुहावने रसों का आस्वादन करके (रोष आदि नहीं करना चाहिए)।

(प्र.) वे अमनोज्ञ रस कौनसे हैं?

(उ.) अरस-हींग आदि के संस्कार से रहित होने के कारण रसहीन, विरस-पुराना होने से विगतरस, ठण्डे, रूखे-बिना चिकनाई के, निर्वाह के अयोग्य भोजन-पानी को तथा रात-वासी, व्यापन्न-रंग बदले हुए, सड़े हुए, अपवित्र होने के कारण अमनोज्ञ अथवा अत्यंत विकृत हो चुकने के कारण जिनसे दुर्गंध निकल रही हो ऐसे तिक्त, कटु, कसैले, खट्टे, शैवालरहित पुराने पानी के समान एवं नीरस पदार्थों में तथा इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ तथा अशुभ रसों में साधु को रोष धारण नहीं करना चाहिए यावत् संयतेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करना चाहिए।

#### पंचम भावना-स्पर्शनेन्द्रिय-संयम-

169-स्पर्शनेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुहावने स्पर्शों को छूकर (रागभाव नहीं धारण करना चाहिए)।

(प्र.) वे मनोज्ञ स्पर्श कौनसे हैं?

(उ.) जलमण्डप-झरने वाले मण्डप, हार, श्वेत चंदन, शीतल निर्मल जल, विविध पुष्पों की शय्या-फूलों की सेज, खसखस, मोती, पद्मनाल, चन्द्रमा की चाँदनी तथा मोर-पिच्छी, तालवृंत-ताड़ का पंखा, वीजना से की गई सुखद शीतल पवन में, ग्रीष्मकाल में सुखद स्पर्श वाले अनेक प्रकार के शयनों और आसनों में, शिशिरकाल-शीतकाल में आवरण गुण वाले अर्थात् ठण्ड से बचाने वाले वस्त्रादि में, अंगारों से शरीर को तपाने, धूप, स्निग्ध-तेलादि पदार्थ, कोमल और शीतल, गर्म और हल्के-जो ऋतु के अनुकूल सुखप्रद स्पर्श वाले हो, शरीर को सुख और मन को आनंद देने वाले हो, ऐसे सब स्पर्शों में तथा इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ और सुहावने स्पर्शों में श्रमण को आसक्त नहीं होना चाहिए, अनुरक्त नहीं होना चाहिए, गूढ़ नहीं होना चाहिए-उन्हें प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए, मुग्ध नहीं होना चाहिए और स्व-परहित का विघात नहीं करना चाहिए, लुब्ध नहीं होना चाहिए, तल्लीनचित्त नहीं होना चाहिए, उनमें संतोषानुभूति नहीं करनी चाहिए, हँसना नहीं चाहिए, यहाँ तक कि उनका स्मरण और विचार भी नहीं करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त स्पर्शनेन्द्रिय से अमनोज्ञ एवं पापक-असुहावने स्पर्शों को छूकर (रुष्ट-द्विष्ट नहीं होना चाहिए)।

(प्र.) वे स्पर्श कौनसे हैं?

(उ.) वध, बंधन, ताड़न-थप्पड़ आदि का प्रहार, अंकन-तपाई हुई सलाई आदि से शरीर को दागना, अधिक भार का लादा जाना, अंग-भंग होना या किया जाना, शरीर में सुई या नख का चुभाया जाना, अंग की हीनता होना, लाख के रस, नमकीन (क्षार) तैल, उबलते शीशे या कृष्ण वर्ण लोहे से शरीर का सींचा जाना, काष्ठ के खोड़े में डाला जाना, डोरी के निगड़ बंधन से बाँधा जाना, हथकड़ियाँ पहनाई जाना, कुंभी में पकाना, अग्नि से जलाया जाना, शेफत्रोटन लिंगच्छेद, बाँधकर ऊपर से लटकाना, शूली पर चढ़ाया जाना, हाथी के पैर से कुचला जाना, हाथ-पैर-कान-नाक-होंठ और शिर में छेद किया जाना, जीभ का बाहर खींचा जाना, अण्डकोश-नेत्र-हृदय-दाँत या आँत का मोड़ा जाना, गाड़ी में जोता जाना, बेत या चाबुक द्वारा

प्रहार किया जाना, एड़ी, घुटना या पाषाण का अंग पर आघात होना, यंत्र में पीला जाना, कपिकच्छू-अत्यंत खुजली होना अथवा खुजली उत्पन्न करने वाले फल-करेंच का स्पर्श होना, अग्नि का स्पर्श, बिच्छू के डंक का, वायु का, धूप का या डांस-मच्छरों का स्पर्श होना, दुष्ट-दोषयुक्त-कष्टजनक आसन, स्वाध्यायभूमि में तथा दुर्गधमय, कर्कश, भारी, शीत, उष्ण एवं रूक्ष आदि अनेक प्रकार के स्पर्शों में और इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ स्पर्शों में साधु को रूष्ट नहीं होना चाहिए, उनकी हीलना नहीं करनी चाहिए, निन्दा और गर्हा नहीं करनी चाहिए, खिंसना नहीं करनी चाहिए, अशुभ स्पर्श वाले द्रव्य का छेदन-भेदन नहीं करना चाहिए, स्व-पर का हनन नहीं करना चाहिए। स्व-पर में घृणावृत्ति भी उत्पन्न नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रियसंवर की भावना से भावित अन्तःकरण वाला, मनोज्ञ और अमनोज्ञ, अनुकूल और प्रतिकूल स्पर्शों की प्राप्ति होने पर राग-द्वेष वृत्ति का संवरण करने वाला साधु मन, वचन और काय से गुप्त होता है। इस भाँति साधु संवृतेन्द्रिय होकर धर्म का आचरण करे।

#### पंचम संवरद्वार का उपसंहार-

170-इस (पूर्वोक्त) प्रकार से यह पाँचवाँ संवरद्वार-अपरिग्रह सम्यक् प्रकार से मन, वचन और काय से परिरक्षित पाँच भावना रूप कारणों से संवृत किया जाए तो सुरक्षित होता है। धैर्यवान् और विवेकवान् साधु को यह योग जीवनपर्यंत निरंतर पालनीय है। यह आस्रव को रोकने वाला, निर्मल, मिथ्यात्व आदि छिद्रों से रहित होने के कारण अपरिस्रावी, संक्लेशहीन, शुद्ध और समस्त तीर्थकरों द्वारा अनुज्ञात है। इस प्रकार यह पाँचवाँ संवरद्वार शरीर द्वारा स्मृष्ट, पालित, अतिचार-रहित शुद्ध किया हुआ, परिपूर्णता पर पहुँचाया हुआ, वचन द्वारा कीर्तित किया हुआ, अनुपालित तथा तीर्थकरों की आज्ञा के अनुसार आराधित होता है।

ज्ञातमुनि भगवान् ने ऐसा प्रतिपादन किया है। युक्तिपूर्वक समझाया है। यह प्रसिद्ध, सिद्ध और भवस्थ सिद्धों-अरिहंतों का उत्तम शासन कहा गया है, समीचीन रूप से उपदिष्ट है।

यह प्रशस्त संवरद्वार पूर्ण हुआ। ऐसा मैं (सुधर्मा) कहता हूँ।

**विवेचन**-उल्लिखित सूत्रों में अपरिग्रह महाव्रत रूप संवर की पाँच भावनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वे भावनाएँ इस प्रकार हैं-(1) श्रोत्रेन्द्रियसंवर

(2) चक्षुरिन्द्रियसंवर (3) घ्राणेन्द्रियसंवर (4) रसनेन्द्रियसंवर और (5) स्पर्शनेन्द्रियसंवर।

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श, ये इन्द्रियों के विषय हैं। प्रत्येक विषय अनुभूति की दृष्टि से दो प्रकार का है-मनोज्ञ और अमनोज्ञ।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करती है तब वह विषय सामान्य रूप ही होता है। किन्तु उस ग्रहण के साथ ही आत्मा में विद्यमान संज्ञा उसमें प्रियता या अप्रियता का रंग घोल देती है। जो विषय प्रिय प्रतीत होता है वह मनोज्ञ कहलाता है और जो अप्रिय अनुभूत होता है वह अमनोज्ञ प्रतीत होता है।

वस्तुतः मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता विषय में स्थित नहीं है, वह प्राणी की कल्पना द्वारा आरोपित है। उदाहरणार्थ शब्द को ही लीजिए। कोई भी शब्द अपने स्वभाव से प्रिय अथवा अप्रिय नहीं है। हमारी मनोवृत्ति अथवा संज्ञा ही उसमें यह विभेद उत्पन्न करती है और किसी शब्द को प्रिय-मनोज्ञ और किसी को अप्रिय-अमनोज्ञ मान लेती है। मनोवृत्ति ने जिस शब्द को प्रिय स्वीकार कर लिया उसे श्रवण करने से रागवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और जिसे अप्रिय मान लिया उसके प्रति द्वेष भावना जाग उठती है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य को कोई भी एक शब्द सर्वदा एक-सा प्रतीत नहीं होता। एक परिस्थिति में जो शब्द अप्रिय-अमनोज्ञ प्रतीत होता है और जिसे सुनकर क्रोध भड़क उठता है, आदमी मरने-मारने को उद्यत हो जाता है, वही शब्द दूसरी परिस्थिति में ऐसा कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत हर्ष और प्रमोद का जनक भी बन जाता है। गाली सुनकर मनुष्य आग-बबूला हो जाता है परन्तु ससुराल की गालियाँ मीठी लगती हैं। तात्पर्य यह है कि एक ही शब्द विभिन्न व्यक्तियों के मन पर और विभिन्न परिस्थितियों में एक ही व्यक्ति के मन में अलग-अलग प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करता है। इस विभिन्न प्रभावजनकता से स्पष्ट हो जाता है कि प्रभावजनन की मूल शक्ति शब्द निष्ठा नहीं, किन्तु मनोवृत्तिनिष्ठ है।

इस वस्तुतत्त्व को भलीभाँति नहीं समझने वाले और शब्द को ही इष्ट-अनिष्ट मान लेने वाले शब्द श्रवण करके राग अथवा द्वेष के वशीभूत हो जाते हैं। राग-द्वेष के कारण नवीन कर्मों का बंध करते हैं और आत्मा को मलीन बनाते हैं। इससे अन्य अनेक अनर्थ भी उत्पन्न होते हैं। शब्दों के कारण हुए भीषण अनर्थों के उदाहरण पुराणों और इतिहास में भरे पड़े हैं। द्रौपदी के एक वाक्य ने महाभारत जैसे विनाशक

महायुद्ध की भूमिका निर्मित कर दी।

तत्त्वज्ञानी जन पारमार्थिक वस्तुस्वरूप के ज्ञाता होते हैं। वे अपनी मनोवृत्ति पर नियंत्रण रखते हैं। वे शब्द को शब्द ही मानते हैं। उसमें प्रियता या अप्रियता का आरोप नहीं करते, न किसी शब्द को गाली मानकर रुष्ट होते हैं, न स्तुति मानकर तुष्ट होते हैं। यही श्रोत्रेन्द्रियसंवर है। आचारांग में कहा है-

**न सक्का ण सोउं सद्दा, सोत्तविसयमागया।**

**राग-दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जाए।।**

अर्थात् कर्ण-कुहर में प्रविष्ट शब्दों को न सुनना तो शक्य नहीं है-वे सुनने में आये बिना रह नहीं सकते, किन्तु उनको सुनने से उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष से भिक्षु को बचना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय को बंद करके रखना संभव नहीं है। दूसरों के द्वारा बोले हुए शब्द श्रोत्रगोचर होंगे ही। किन्तु साधक संत उनमें मनोज्ञता अथवा अमनोज्ञता का आरोप न होने दे-अपनी मनोवृत्ति को इस प्रकार अपने अधीन कर रखे कि वह उन शब्दों पर प्रियता या अप्रियता का रंग न चढ़ने दे। ऐसा करने वाला संत पुरुष श्रोत्रेन्द्रियसंवरशील कहलाता है।

जो तथ्य श्रोत्रेन्द्रिय के विषयभूत शब्दों के विषय में है, वही चक्षुरिन्द्रिय आदि के विषय रूपादि में समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार पाँचों इन्द्रियों के संवर से सम्पन्न और मन, वचन, काय से गुप्त होकर ही साधु को धर्म का आचरण करना चाहिए। मूल पाठ में आये कतिपय शब्दों का स्पष्टीकरण इस भाँति है-

**नन्दी-बारह प्रकार के वाद्यों की ध्वनि नन्दी कहलाती है। वे वाद्य इस भाँति हैं-**

**भंभा मउंद मद्दल हुडुक्क तिलिमा य करड कंसाला।**

**काहल वीणा वंसो संखो पणवओ य वारसमो।।**

अर्थात्-(1) भंभा (2) मउंद (3) मद्दल (4) हुडुक्क (5) तिलिमा (6) करड (7) कंसाल (8) काहल (9) वीणा (10) वंस (11) संख और (12) पणव।

**कुष्ठ-कोढ़ नामक रोग प्रसिद्ध है। उनके यहाँ अठारह प्रकार बतलाए गए हैं।**

इनमें सात महाकोढ़ और ग्यारह साधारण-क्षुद्र कोढ़ माने गए हैं। टीकाकार लिखते हैं कि सात महाकुष्ठ समग्र धातुओं में प्रविष्ट हो जाते हैं, अतएव असाध्य होते हैं। महाकुष्ठों के नाम हैं-(1) अरुण (2) उदुम्बर (3) रिश्यजिह्व (4) करकपाल (5) काकन (6) पीण्डरीक (7) दद्रू। ग्यारह क्षुद्रकुष्ठों के नाम हैं-(1) स्थूलमारुक्क (2) महाकुष्ठ (3) एककुष्ठ (4) चर्मदल (5) विसर्प (6) परिसर्प (7) विचर्चिका (8) सिध्म (9) किटिभ (10) पामा और शतारुका। विशिष्ट जिज्ञासुओं को आयुर्वेद ग्रंथों से इनका स्वरूप समझ लेना चाहिए।

कुब्ज आदि होने के कारण टीकाकार ने उद्धृत किए हैं-

**गर्भं वातप्रकोपेण, दोहदे वाऽपमानिते।**

**भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मन्मन एव वा।।**

अर्थात् गर्भ में वात का प्रकोप होने के कारण अथवा गर्भ का अपमान होने से-गर्भवती की इच्छा की पूर्ति न होने के कारण संतान कुबड़ी, टोंटी, लंगड़ी, गूँगी अथवा मन्मन-व्यक्त उच्चारण न करने वाली होती है।

मूल पाठ का आशय स्पष्ट है। पाँचों भावनाओं का सार-संक्षेप यही है-

**जे सह-रूव-रस-गंधमागए, फासे य संपप्य मणुण्ण-पावए।**

**गेही पओसं न करेज्ज पंडिए, स होति दंते विरए अकिंचणे।।**

अर्थात्-मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के प्राप्त होने पर जो पंडित पुरुष राग और द्वेष नहीं करता, वही इन्द्रियों का दमनकर्ता, विरत और अपरिग्रही कहलाता है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि राग और द्वेष आभ्यंतर परिग्रह हैं-एकांत रूप से मुख्य परिग्रह है। अतएव इन्हीं को लक्ष्य में रखकर अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ प्रतिपादित की गई हैं।

### **संपूर्ण संवरद्वार का उपसंहार**

171-हे सुव्रत! ये पाँच संवररूप महाव्रत सैकड़ों हेतुओं से पुष्कल-विस्तीर्ण हैं। अरिहंत-शासन में ये संवरद्वार संक्षेप में (पाँच) कहे गए हैं। विस्तार से (प्रत्येक की पाँच-पाँच भावनाएँ होने से) इनके पच्चीस प्रकार होते हैं। जो साधु ईर्यासमिति आदि (पूर्वोक्त पच्चीस भावनाओं) सहित होता है अथवा ज्ञान और दर्शन से सहित होता है तथा कषायसंवर और इन्द्रियसंवर से संवृत होता है, जो प्राप्त संयमयोग का



यत्नपूर्वक पालन करता है और अप्राप्त संयमयोग की प्राप्ति के लिए यत्नशील रहता है, सर्वथा विशुद्ध श्रद्धानवान् होता है, वह इन संवरों की आराधना करके अशरीर-मुक्त होगा।

### गृहस्थ धार्मिकों के कर्तव्य

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन् सद्गीस्त्रिवर्ग भज-

न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो ह्रीमयः।

युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,

शृण्वन् धर्मविधिं दयालुर्घभीः सागारधर्मं चरेत्॥ (11)

**अन्वयार्थ-**(न्यायोपात्तधनः) न्यायपूर्वक धन कमाने वाला। (गुणगुरुन्) गुणों की माता-पितादि गुरुओं की तथा सम्यक्त्वादि गुणों में श्रेष्ठ मुनियों की। (यजन्) पूजा करने वाला (सद्गीः) प्रशंसनीय सत्य वचनों को बोलने वाला। (अन्योन्यानुगुणं) परस्पर विरोध रहित। (त्रिवर्ग) धर्म अर्थ और काम इन तीन वर्गों को (भजन्) सेवन करने वाला। (तदर्हगृहिणीस्थानालयः) तीन पुरुषार्थ के योग्य स्त्री ग्राम और घर जिसके है ऐसा (ह्रीमयः) लज्जाशील। (युक्ताहारविहारः) शास्त्रोक्त योग्य आहार तथा विहार करने वाला। (आर्यसमितिः) आर्य पुरुषों की संगति करने वाला। (प्राज्ञः) बुद्धिमान् अर्थात् हिताहित का विचार करने वाला। (कृतज्ञः) दूसरों के द्वारा किये हुए उपकार को मानने वाला। (वशी) इन्द्रियों को वश में करने वाला। (धर्मविधिं) धर्म की विधि को (शृण्वन्) सुनने वाला। (दयालुः) दुःखी जीवों पर दया करने वाला और (अघभीः) पापों से डरने वाला पुरुष। (सागारधर्मं) गृहस्थ धर्म को। (चरेत्) धारण करने योग्य है।

**भावार्थ-**इस श्लोक में चरेत् यह विधिलिंग है, इसका अर्थ यह है व्याकरण के नियम से अर्ह अर्थात् योग्य अर्थ में विधिलिंग का उपयोग किया जाता है। जैसे चरितुमर्हतीति चरेत् अर्थात् धारण करने योग्य है अथवा विधि अर्थ में भी सप्तमी का प्रयोग किया जाता है। पूर्व श्लोक में भद्रपुरुष का वर्णन किया है और अब आगे द्रव्य पाक्षिक श्रावक का कथन करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि न्याय से धन कमाना आदि चौदह गुणों में से समस्त अथवा व्यस्त रूप से उन गुणों को धारण करने वाला पुरुष ही सागारधर्म को धारण करने योग्य होता है।

1. न्यायोपात्तधन-न्याय से धन कमाना-स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात,

ठगना, चोरी करना आदि निन्दित उपायों से धनोपार्जन रहित तथा अपने-अपने वर्णों के अनुसार सदाचार को न्याय कहते हैं। न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना न्यायोपात्तधन कहलाता है। जो पुरुष न्यायपूर्वक धनोपार्जन करता है वह गृहस्थ धर्म धारण करने योग्य है। क्योंकि गृहस्थों की मनोवृत्ति प्रायः कर वित्तोपार्जन में ही लगती रहती है। इसलिये धनेच्छुक मनुष्य यद्वा-कद्वा न्याय अन्याय का विचार न करके धनोपार्जन करते हैं उनकी मनोभूमि एकदेशव्रत पालन करने की तरफ नहीं झुक सकती है। न्यायोपार्जन किया हुआ धन ही इस लोक और परलोक में सुख देने वाला है। सो ही आचार्यों ने कहा है।

**सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः।**

**स्वकर्मनिहितात्मानः पापाः सर्वत्र शंकिताः॥**

जो पुरुष न्याय और उत्तम कर्मों के बल से गर्वित हैं वे पुरुष सब जगह प्रत्येक स्थिति में तथा प्रत्येक कार्य में धीर तथा पवित्र रहते हैं। उनको कहीं पर भी किसी प्रकार का भय नहीं होता है। परन्तु जिन्होंने निन्द्य तथा नीच कर्मों से अपनी आत्मा को पतित किया है, वे सब शंकित तथा भयभीत हैं और भी आचार्यों ने कहा है।

**अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति।**

**प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति॥ (1)**

**यांति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यचोऽपि सहायतां।**

**अपंथानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥ (2)**

अन्यायपूर्वक उपार्जन किया हुआ धन अधिक से अधिक दस वर्ष तक रह सकता है और ग्यारहवें वर्ष लगने पर मूल सहित नष्ट हो जाता है। न्याय मार्ग पर चलने वाले पुरुषों को तिर्यच भी सहायता करता है और अन्यायपूर्वक प्रवृत्ति करने वालों का साथ अपना सगा भाई भी छोड़ देता है। दूसरे की तो बात ही क्या है। इसलिये न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना चाहिए।

**2. गुणगुरुन् यजन्-गुणों की, गुरुओं की तथा गुणों में श्रेष्ठ है उनकी पूजा करना।**

**लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः।**

**कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः॥**

लोकपवाद से भयभीत होना, दीनों के उद्धार करने में आदर रखना, कृतज्ञता

और उदारता को सदाचार कहते हैं। सज्जनता, उदारता, दानशीलता, गंभीरता और उत्कृष्टभाषणशीलता आदि से अपना तथा पर का उपकार करना गुण कहलाता है और उन गुणों से युक्त पुरुषों को 'गुणगुरु' कहते हैं। उन गुणों में श्रेष्ठ पुरुषों का बहुमान, प्रशंसा, नाना प्रकार की सहायता से सत्कार सेवा आदि करना गुणगुरु पूजा कहलाती है तथा माता-पिता, आचार्यादि की त्रिकाल वंदना करना, नमस्कार करना, मन, वचन, काय से उनकी शुश्रूषा करना भी गुरुपूजा कहलाती है। माता-पिता की सेवा करना भी गुरुपूजा कहलाती है-क्योंकि आचार्यों ने कहा है-

**यन्मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणां।**

**न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि।। (1)**

मनुष्यों की उत्पत्ति के समय में जो उनके माता-पिता दुःख को सहन करके उनका उपकार करते हैं, उसका बदला सौ वर्षों में भी नहीं चुकाया जा सकता है। इसलिये माता-पिता की सेवा करना भी व्यवहार में गुरुपूजा कहलाती है तथा ज्ञान संयमादिक गुणों से शोभायमान पूज्य गुरुओं की वैयावृत्य करना, उनको नमस्कार करना, हाथ जोड़ना, उनके सामने आने पर आसन से उठना आदि उपचार विनय के द्वारा सत्कार गुण गुरुपूजा कहलाती है। गुण, गुरु तथा गुणगुरुओं की पूजन करना स्वकीय गुणों के विकास के लिए निमित्त कारण है। क्योंकि जो जिस गुणों का इच्छुक होता है वही उन गुणों की वा गुणवानों की संगति की उपासना करता है। इसलिये जो सम्यग्दर्शनादि गुणों में तथा गुणवानों में आदर भाव नहीं रखता है, वह अपने गुणों का विकास करने में समर्थ नहीं है।

**3. सद्गी-**सत् अर्थात् समोचन प्रशंसनीय परावर्णवाद कठोर कर्कशादि दोषरहित भी अर्थात् वाणी वचन जिसके हो उसको सद्गी कहते हैं। प्रशंसनीय वचन बोलना भी श्रावक धर्मपालन में कारण है। सो ही लिखा है-

**यदिच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा,**

**परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय।**

**परपरिभवपरिवादादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म,**

**नोचैर्गात्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मचम्।।**

जो तुम एक ही उपाय से संपूर्ण संसार को अपने वश में करना चाहते हो तो दूसरे की निंदारूपी सस्यको चरने वाली अपनी वाणी रूपी गाय को रोको अर्थात् दूसरों

की निंदा मत करो। दूसरे का तिरस्कार तथा उसकी निंदा करने से और अपनी प्रशंसा करने से प्रत्येक भव में नीचगोत्र कर्म का बंध होता है, जो नीच गोत्र अनेक भव में भी नहीं छूट सकता है।

**4. अन्योन्यानुगुणं त्रिवर्ग भजन्-परस्पर विरोध रहित तीनों वर्ग का सेवन करना।** धर्म, अर्थ और काम इन तीनों को त्रिवर्ग कहते हैं। इन तीनों का परस्पर विरोध रहित सेवन करना चाहिए।

धर्म-आत्मा के सम्यग्दर्शनादि गुणों को धर्म कहते हैं।

अर्थ-जिसके द्वारा हमें लौकिक कार्यों की सिद्धि होती है उसको अर्थ कहते हैं। अथवा बुद्धि, श्रम, जमीन को भी अर्थोत्पादक होने से अर्थ कहते हैं।

काम-पंचेन्द्रियों के विषय को काम कहते हैं अथवा जिससे पाँचों इन्द्रियों की तृप्ति हो उसको काम कहते हैं। इसमें काम का कारण अर्थ (धन) है। क्योंकि धन के बिना पंचेन्द्रिय संबंधी भोगोपभोग सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती। अर्थ में धर्म कारण है। क्योंकि पुण्योदय के बिना धन की प्राप्ति नहीं हो सकती है तथा सत्यता प्रामाणिकता के बिना धन की प्राप्ति नहीं होती है। सत्यता सदाचार से आती है और सदाचार का नाम ही धर्म है। इसलिये प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है परस्पर विरोध रहित तीनों पुरुषार्थ को सेवन करे। क्योंकि जो मनुष्य अपने धर्म की रक्षा करते हुए अर्थोपार्जन करते हैं, और अपने-अपने अर्थानुसार धर्मानुकूल पंचेन्द्रिय विषयों को सेवन करते हैं, उनकी प्रवृत्ति धर्म की रक्षा करने से अधार्मिक तथा अर्थ की रक्षा करते हुए विषय सेवन करने से दारिद्र्य आदि दोषों से आक्रांत नहीं होती है। इसलिये परस्पर में अविरोध भाव से त्रिवर्ग को सेवन करने वाले पुरुष ही श्रावकधर्म के पालन करने के योग्य कहे गये हैं। और शास्त्रों में भी आचार्यों ने कहा है-

**यस्य त्रिवर्गशून्यानि दिनान्यायान्ति यांति च।**

**स लोहकार भस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति।।**

परस्पर में अविरोध भाव से धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों के सेवन के बिना ही जिसके दिन आते हैं और जाते हैं वह पुरुष लुहार की धोंकनी के समान श्वासोच्छ्वास लेता हुआ भी मरे हुए के समान है अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के सेवन के बिना मनुष्य का जीवन पशु के समान निरर्थक है तथा उसका जीना और नहीं जीना दोनों बराबर है। और भी कहा है-

**पादमायान्निधिं कुर्यात्पादं वित्ताय खट्वयेत्।**

**धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्तव्यपोषणे।।**

गृहस्थ अपने द्वारा कमाये हुए धन के चार भाग करे। उसमें एक भाग तो जमा रखे। दूसरा भाग धन कमाने के लिए व्यापार में लगावे। तीसरा भाग धर्म तथा अपने उपभोग में खर्च करे और चौथा भाग अपने कुटुम्ब वा नौकर आदि के पालन-पोषण में खर्च करे। अथवा

**आयार्द्धं च नियुज्जीत धर्मं समधिकं ततः।**

**शौषेण शेषं कुर्वीत यत्नतस्तुच्छमैहिकं।।**

गृहस्थ को अपनी आय का आधे से कुछ अधिक भाग धर्म में खर्च करना चाहिए और बचे हुए शेष धन के द्वारा यत्नपूर्वक इस लोक संबंधी शेष कार्यों को करना चाहिए। क्योंकि इस लोक संबंधी सुख तुच्छ है। इसलिये उसमें अधिक धन का व्यय करना योग्य नहीं है। इसलिये परस्पर विरोध रहित त्रिवर्गों का सेवन करना ही योग्य है क्योंकि जिन पुरुषों की प्रवृत्ति इससे विपरीत है वे पुरुष सांसारिक सुख वा शांति से रहित होकर हमेशा नाना प्रकार के संक्लेषों से आतुर रहते हैं; और उस आतुरता के कारण धर्म-कर्म से विमुख होकर यथेष्ट रीति से न्याय अन्याय का विचार न करके अर्थ वा काम के सेवन में प्रवृत्त होते हैं इसलिये ऐसे पुरुष धर्म के अधिकारी नहीं हैं।

**5. योग्यस्त्री, योग्यस्थान तथा योग्यआलय-कुलीनता** आदि गुणों से युक्त योग्य स्त्री, जहाँ पर उदार चेता, सज्जन, गुणवान धार्मिक पुरुष रहते हो तथा जहाँ पर अर्थोपार्जन की सामग्री हो ऐसा स्थान, और योग्य गृह वगैरह त्रिवर्ग साधन करने में बाह्य कारण हैं। इसलिये जिसको स्त्री, स्थान तथा आलय के निमित्त से किसी प्रकार की आकुलता नहीं है, प्रत्युत उनमें त्रिवर्ग में सहायता मिलती है ऐसा पुरुष श्रावक धर्म के धारण करने योग्य कहलाता है। क्योंकि मनुष्य जीवन में तथा सृष्टि के ऊपर स्त्री का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिये कुभार्या के निमित्त से अपने जीवन वा संतान के कोमल हृदय पर बुरे संस्कार पड़ते हैं। जिससे आकुलित मानव शीघ्र त्रिवर्ग के सेवन की तरफ रुचि नहीं कर सकता है इसलिये त्रिवर्ग साधन में योग्य स्त्री का होना प्रधान कारण है। सीता को प्रस्थान के समय जनक ने शिक्षा दी थी।

**अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता,**

तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधौ तस्योपचर्या स्वयं।।

सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति,

प्राज्ञैः पुत्रि निवेदिताः कुलवधूसिद्धान्तधर्मा इमे।।

हे पुत्री! पति के घर जाने पर उनका सत्कार करने के लिए उठकर खड़ा होना, जो कुछ वो कहे उसको विनयपूर्वक सुनना, उनके आसन पर बैठ जाने पर उनके चरणों में दृष्टि रखना, स्वयं उनकी सेवा करना, उनके सोने पर सोना और उनके उठने के पहले उठना, ये सब विद्वानों ने कुलपुत्रियों का धर्म कहा है। जिस प्रकार योग्य स्त्री त्रिवर्ग में प्रधान कारण है उसी प्रकार जिस-जिस स्थान में योग्य शासक नहीं हैं, उदार चित्तवाले सज्जन पुरुष नहीं हैं अर्थोत्पादन के साधन नहीं हैं, सद्बुद्ध नहीं, ज्ञान तथा संयम को बढ़ाने वाला वातावरण नहीं है, और धर्म साधन के कारण जिन मंदिर, शास्त्र स्वाध्याय का स्थान नहीं है, ऐसे स्थान में रहने वाले व्यक्ति भी पूर्ण रूप से त्रिवर्ग को सेवन नहीं कर सकते हैं। इसलिये योग्य स्त्री के समान योग्यस्थान भी धर्म साधन में कारण है। तथा रहने का मकान भी धर्मसाधन में कारण है। क्योंकि जिस मकान में धर्म, अर्थ और काम के सेवन करने के अलग-अलग विभाग नहीं है, योग्य पड़ोसी नहीं हो जो हमेशा ग्लानि युक्त रहता है, स्वच्छता से रहित हो, तथा जहाँ पर त्यागी ब्रतियों की आहारदान की व्यवस्था, विद्वान् पुरुषों का आगमन, आवास न हो, ऐसा मकान भी त्रिवर्ग साधन में उपयुक्त नहीं है। इसलिये योग्य स्थान भी धर्म, अर्थ और काम इन तीन वर्ग के साधन में मुख्य कारण है।

6. **ह्रीमयः**—स्त्रियों के समान पुरुषों का भी लज्जा एक भूषण है। क्योंकि लज्जाशील पुरुष ही स्वाभिमान की रक्षा करने के लिए समर्थ होता है तथा वही मानव अपकीर्ति के भय से असदाचार में प्रवृत्ति नहीं करता है। लज्जाशील पुरुष ही कितनी ही आपत्ति आने पर भी अपने स्वाभिमान पर धक्का नहीं आने देता है और अपनी ली हुई प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ता है। वह लोक भय के कारण हमेशा असत्कर्मों से दूर रहता है। उसकी प्रवृत्ति हमेशा कोमल, तथा व्यवहार अत्यंत शोचनीय होता है। परन्तु जिनके परिणामों में लज्जा नहीं है उसको लोकपवाद का भय नहीं है वह भंडवचन बोलने वाला होता है, अपनी ली हुई प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं होता है। इसलिये लज्जाशील होना भी धर्मसाधन में एक कारण है।

7. **युक्ताहारविहार**—शास्त्रविहित आहार-विहार करने वाला। सामान्तया आहार

का अर्थ भोजन और विहार का अर्थ गमनागमन करना है। परन्तु युक्त (योग्य) शब्द का विशेषण लगा देने से धर्मशास्त्र तथा वैद्यक शास्त्र कथित आहार-विहार करने वाला होना चाहिए। क्योंकि जो धर्मशास्त्र विहित आहार को छोड़कर आहार करने वालों के भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं होता है। इसलिये जो पदार्थ अभक्ष्य हैं, शरीर को बाधा पहुँचाने वाला है, मदकारक है, अविचारी निन्दनीय पुरुषों के द्वारा बनाया हुआ है, उसका सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि यद्वा-तद्वा आहार करने से मन दूषित होता है। कहा भी है-

**यादृशं भक्षयेदन्नं तादृशी जायते मतिः।**

**दीपोऽपि भक्ष्यते ध्वांतं कज्जलं च प्रसूयते।।**

“जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन। जैसा पीवे पानी वैसी होवे वाणी,” प्राणी जैसा अन्न खाता है वैसा मन होता है जैसे दीपक अंधकार दूर करता है (खता है) तो उससे कज्जल उत्पन्न होता है। अयोग्य आहार करने से स्वास्थ्य का घात होता है तथा शारीरिक शक्ति का और धर्म प्रवृत्ति का नाश होकर चित्त की प्रवृत्ति अनुचित विषयों में लग जाती है। क्योंकि जिह्वालोलुपी मानव विषयलम्पटी बन जाता है और विषयलम्पटी अर्थ, अनर्थ, धर्माधर्म का विचार नहीं कर सकता है। जिस प्रकार योग्य आहार श्रावक धर्म में प्रधान कारण है उसी प्रकार योग्य विहार भी श्रावकधर्म में मुख्य कारण है। क्योंकि यद्वा-तद्वा निर्लज्ज होकर इधर-उधर विचरण किया करते हैं। वे अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं। उनसे अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं होता है।

**8. आर्यसमिति-**जिनकी संगति से सम्यक्त्वादि गुणों का विकास हो, जगत् में अपनी प्रशंसा हो तथा आत्मप्रतिष्ठा बढ़ती हो ऐसे सज्जन सदाचारी पुरुषों की संगति को आर्यसंगति कहते हैं। सज्जन सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला तथा उनके सहवास में रहने वाला पुरुष ही श्रावकधर्म का पालन कर सकता है। उक्तं च-

**यदि सत्संगतिरतो भविष्यसि भविष्यसि।**

**अथ सज्जानगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि।।**

अर्थ-यदि तुम सज्जन पुरुषों के सहवास में रहोगे, उनकी संगति में लीन होवोगे तो अवश्य ही ज्ञान की गोष्ठी में पड़ोगे अर्थात् उत्तमज्ञान को प्राप्त करोगे। इसके विपरीत दुराचारी जुवारी धूर्त भंडवचन बोलने वाले भाट आदि पुरुषों की संगति से सदाचार रूप श्रावकधर्म का नाश होता है। इसलिये आर्यसंगति भी त्रिवर्ग साधन में

एक कारण है।

9. प्राज्ञ-ऊहापोहात्मक मतिज्ञान के अतिशय को धारण करने वाले को प्राज्ञ कहते हैं। सो ही कहा है-

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेषक्रमो,  
व्योऽयमनुषङ्गजं फलमिदं दशौषा मम।  
अयं सुहृदयं द्विषत्प्रयतदेशकालाविमा-  
विति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः।

यह इस कार्य का फल है, यह इसकी क्रिया है, यह इसका साधन है, यह क्रम है, इतना इसमें खर्च है, यह इस कार्य से होने वाला लाभ है, यह मेरी अवस्था है, यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है और यह देश है, क्षेत्र है, यह काल है, इस प्रकार का विचार करके कार्य में प्रवृत्ति विद्वान् ही करते हैं, मूर्ख लोग नहीं कर सकते। अर्थात् हेयोपदेय का विचार ज्ञानी को ही होता है। उक्तं च-

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।  
किन्तु मे पशुभिस्तुल्यं किन्तु सत्पुरुषैरिति॥

मनुष्यों को हमेशा अपने आचरित कार्यों का अवलोकन करना चाहिए और फिर विचार करना चाहिए कि आज मैंने कौन-कौनसे कार्य तो पशु के समान किये और कौन-कौनसे कार्य मनुष्य के समान किये। इस प्रकार हिताहित का विचार करने वाले को प्राज्ञः कहते हैं।

10. कृतज्ञः-दूसरों के द्वारा किये हुए उपकार को मानता है, कृतघ्न नहीं बनता है, उपकार को नहीं भूलता है वह कृतज्ञ कहलाता है। सज्जन पुरुष पहिले तो किसी से उपकार कराते नहीं और यदि कोई उपकार करते तो उसका उपकार कभी भूलते नहीं हैं। कृतज्ञता यह महान् गुण है इससे संपूर्ण कार्यों की सिद्धि होती है, जगत् को वश में करने के लिए यह अमोघमंत्र है। उक्तं च-

विधित्सुरेनं तदिहात्मवश्यं, कृतज्ञतायाः समुपैहि पारं।  
गुणैरुपेतोऽप्यखिलैः कृतघ्नः, समस्तमुद्वेजयते हि लोकं॥

अर्थ-यदि तुम संपूर्ण जगत् को अपने वश में करना चाहते हो तो प्रथम कृतज्ञता की सीमा को प्राप्त हो अर्थात् कृतज्ञ बनो। क्योंकि संपूर्ण गुणों से युक्त होने पर भी कृतघ्नी समस्त जगत् को उद्वेलित करता है, पीड़ित करता है। इसलिये कृतज्ञता भी



श्रावक धर्म में प्रधान गुण है।

11. वशी-जो इष्ट पदार्थों में आसक्ति न करता हुआ और विरुद्ध पदार्थों में प्रवृत्ति न करता हुआ, बाह्य में स्पर्शनादि पंचेन्द्रिय विषयों के विकार का और अंतरंग काम, क्रोध, मद, मोह, लोभादि शत्रुओं का निरोध करते हैं। अर्थात् उन पर विजय प्राप्त करते हैं उनको वशी कहते हैं। जो बाह्य में पंचेन्द्रिय के विषयों को रोकने के साथ में काम क्रोधादि अंतरंग विकारों को भी रोकता है वही वस्तुतः वशी कहलाता है, केवल ख्याति, पूजा, लाभादिक के निमित्त इन्द्रियों के विषयों को रोकने वाला वशी नहीं है। पंचेन्द्रिय संबंधी विषयनिग्रह तथा काम क्रोधादिक का निग्रह करने वाला ही श्रावकधर्म धारण कर सकता है। इनके वशीभूत होने वाला श्रावकधर्म का पालन नहीं कर सकता है। इसलिये वशी (इन्द्रियों को वश में करना) होना भी श्रावक का गुण है।

12. धर्मविधि को सुनने वाला-धर्म का कारण धर्मविधि है अर्थात् मोक्ष और स्वर्गादि सुख के कारण को धर्मविधि कहते हैं और युक्ति आगम से सिद्ध धर्म के स्वरूप को जो प्रतिदिन सुनता है उसको धर्म की विधि को सुनने वाला कहते हैं। धर्म की विधि का सुनने का अधिकारी कौन है? उसका वर्णन आत्मानुशासन में लिखा है।

भव्यः किं कुशलं ममेति विमृशन्दुःखाद्भृशं भतवान्,  
सौख्येषी श्रवणादिबुद्धिविभवः श्रुत्वा विचार्य स्फुटम्।  
धर्मं कार्यकरं दयागुणमयं, युक्त्यागमाभ्यां स्थितं,  
गृह्णन्धर्मकथाश्रुतावधिकृतः शास्यो निरस्ताग्रहः॥

जो भव्य हो, कौनसे कार्य में मेरा कल्याण होगा, इस बात का अर्थात् अपने हित का विचार करने वाला हो, दुःखों से अत्यंत डरने वाला हो, सुख को चाहने वाला हो, श्रोतापने के गुणों से युक्त हो, अर्थात् शास्त्रों के सुनने आदि में उत्तम बुद्धि रखने वाला हो, युक्ति तथा आगम से सिद्ध और सुख को करने वाले ऐसे दया गुणमयी धर्म को सुन करके तथा अच्छी तरह से विचार करके उसको ग्रहण करने वाला हो और जो दुराग्रह से रहित हो वही शिष्य हो, पुरुष ही धर्मकथा सुनने का अधिकारी माना गया है।

13. दयालु-दुःखी प्राणियों के दुःखनाश करने की इच्छा को दया कहते हैं और जिनके परिणामों में दया हो अर्थात् जो दया युक्त हो, उसको दयालु कहते हैं। 'धर्मस्य मूलं दया' ऐसा शास्त्र वचन है। इसलिये दया को अवश्य स्वीकार करना

चाहिए। सो ही कहा है-

**प्राणा यथाऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।**

**आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वीत मानवः।।**

जिस प्रकार तुमको अपना प्राण प्रिय है उसी प्रकार संपूर्ण जीवों को भी अपने-अपने प्राण प्रिय हैं, इसलिये मनुष्यों को अपने समान ही संपूर्ण प्राणियों पर दया करनी चाहिए।

**श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।**

**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।**

धर्म के सार को सुनो तथा सुनकर उन पर विचार करो। क्योंकि संपूर्ण धर्म का सार यही है कि जो कार्य अपने प्रतिकूल हैं उन कार्यों को दूसरों के प्रति मत करो अर्थात् दूसरों के द्वारा किये गये जिन कार्यों से तुमको दुःख होता है उन कार्यों को तुम दूसरों के प्रति भी मत करो।

**अवृत्तिव्याधिशोकार्ताननुवर्तेत शक्तितः।**

**आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकाः।।**

अर्थ-जो आजीविका के अभाव से रोग तथा शोकादिक से दुःखी हैं ऐसे प्राणियों की सदैव अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करनी चाहिए। और छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े चींटी आदि संपूर्ण जीवों को भी सदैव अपने समान ही देखना चाहिए। इसलिए दयालु होना भी श्रावकधर्म में एक मुख्य गुण है।

**14. अघभी-दृष्ट अदृष्ट (प्रत्यक्ष और परोक्ष) अपायस्वरूप फल देने वाले चोरी आदि मदिरापानादि पाप कर्म से भयभीत होने वाले को पापभीरू कहते हैं। अर्थात् अघ=पाप से डरने वाला अघभी कहलाता है। इन गुणों को धारण करने वाला श्रावकधर्म को पालन कर सकता है।**

इस प्रकार संक्षेप से इस ग्रंथ में श्रावक के विशेषणों का वर्णन किया है। विशेष रूप से वर्णन ज्ञानदीपिका नामक धर्माभूत की पंजिका में किया है, उसमें देखना चाहिए।

**परिग्रहपरिमाणु व्रत-**

**ममेदमिति सङ्कल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु।**

**ग्रन्थस्तत्कर्मनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाव्रतम्।। (59)**

**अन्वयार्थ-**(चिदचिन्मिश्रवस्तुषु) चेतन, अचेतन और मिश्र वस्तुओं में (मम इदं) यह मेरा है (इति) इस प्रकार का (संकल्पः) संकल्प (ग्रन्थः) परिग्रह है (तत्कर्षनात्) उस ममत्व को स्वल्प करने के लिए (तेषां) उन चेतनाचेतन तथा मिश्र वस्तुओं का (कर्षनं) कमी करना (तत्प्रमात्रतम्) परिग्रहपरिमाण व्रत है॥59॥

**भावार्थ-**चेतन, अचेतन और मिश्र के भेद से परिग्रह तीन प्रकार का है।

चेतन-पुत्र, कलत्र, भृत्यादि सचेतनपरिग्रह है।

अचेतन-सुवर्ण, चाँदी, घर आदि अचेतनपरिग्रह है।

मिश्र-पुष्प वाटिकादि मिश्र परिग्रह है। मिथ्यात्वादि अंतरंग परिग्रह हैं।

उन तीनों प्रकार के परिग्रह में यह वस्तु मेरी है, मैं इनका स्वामी हूँ, इस प्रकार अध्यवसाय रूप ममत्व परिणाम है, उसको परिग्रह कहते हैं। क्योंकि “मूर्च्छा परिग्रहः” ऐसा आचार्यों का वाक्य है। बाह्य परिग्रह में होने वाली मूर्च्छा वा ममत्व परिणाम को कमी करने के लिए ममता का कारणभूत चेतनाचेतनादि बाह्य परिग्रह को कम करना परिग्रहपरिमाणुव्रत कहलाता है॥59॥

अंतरंग परिग्रह के निग्रह का उपाय कहते हैं-

**उद्यत्क्रोधादिहास्यादिषट्कवेदत्रयात्मकम्।**

**अन्तरंगं जयेत्संगं प्रत्यनीकप्रयोगतः॥ (60)**

**अन्वयार्थ-**(उद्यत्क्रोधादिहास्यादिषट्कवेदत्रयात्मकं) दुर्जय क्रोधादि हास्यादि छह तथा तीन वेदस्वरूप (अंतरंगं) अंतरंग (संगं) परिग्रह को (प्रत्यनोकप्रयोगतः) उत्तमक्षमादि प्रत्यनीक प्रयोग से (जयेत्) जीतना चाहिए॥60॥

**भावार्थ-**अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, देशसंयम तथा सकलसंयम का घात करने वाली अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण तथा यथाख्यातचारित्र का घात करने वाली संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद तथा मिथ्यात्व ये अंतरंग परिग्रह हैं। पंचमाणुव्रती के अनंतानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण कषाय तथा मिथ्यात्व का अस्तित्व नहीं है। क्योंकि इनका नाश सम्यक्त्व तथा देशसंयम ग्रहण करने के समय हो गया-क्योंकि इनके उदय में भाव अणुव्रती बन नहीं सकता। इसलिये मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी आदि आठ कषाय को छोड़कर शेष बचे हुए अंतरंग परिग्रह को उत्तम क्षमा आदि भावनाओं के द्वारा जीतने का प्रयत्न करें॥60॥

बहिरंग परिग्रह के त्याग की विधि कहते हैं-

**अयोग्यासंयमस्यांगं संगं बाह्यमपि त्येजत्।**

**मूर्च्छांगत्वादपि त्यक्तुमशक्यं कृशयेच्छनैः॥ (61)**

**अन्वयार्थ-**(अयोग्यासंयमस्य) पंचम गुणस्थान व्रती श्रावक के अयोग्यसंयम का (अंगं) कारणभूत (बाह्यं) बाह्य (संगं) परिग्रह को (अपि) भी (मूर्च्छांगत्वात्) मूर्च्छा का कारण होने से (त्यजेत्) छोड़े (अपि) तथा जो (त्यक्तुं) छोड़ने के लिए (अशक्यं) अशक्य हो उसको भी (शनैः) धीरे-धीरे (कृशयेत्) कृश करे॥61॥

**भावार्थ-**पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक जो पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के करने के अयोग्य अनारंभ, त्रसबंध, व्यर्थ स्थावर घात, परदारगमनादिक असंयम के कारणभूत वास्तु क्षेत्रादि बाह्य परिग्रह हैं-उनका त्याग करे। क्योंकि बाह्य परिग्रह मूर्च्छा का कारण है। इसलिये असंयम के कारणभूत अयोग्य बाह्यपरिग्रह का तो त्याग करे। और जिस परिग्रह को छोड़ने के लिए असमर्थ है उसको धीरे-धीरे कमी करे। क्योंकि परिग्रह संज्ञा अनादिकाल से प्रवर्तमान हैं, उसका सहसा परित्याग करना अशक्य है-और त्याग कर देने पर भी अनादि काल की वासना से भंग होने की संभावना है, इसलिये शक्तिहीन मानवों के लिए काल परिपाटी से परिग्रह संज्ञा को शनैः-शनैः कृश करने का उपदेश दिया है॥61॥

इसी का विस्तार स्वरूप से वर्णन-

**देशसमयात्मजात्याद्यपेक्षयेच्छां नियम्य परिमायात्।**

**वास्त्वादिकमामरणात्परिमितमपि शक्तितः पुनः कृशयेत्॥ (62)**

**अन्वयार्थ-**(देशसमयात्मजात्याद्यपेक्षया) देश-काल अपनी आत्मा जाति आदि की अपेक्षा से (इच्छां) इच्छा का (नियम्य) संतोष भावना से निग्रह करके (आमरणात्) मरण पर्यंत (वास्त्वादिकम्) धनधान्यदिक का (परिमायात्) परिमाण करे (पुनः) फिर (परिमितम्) परिमाण की हुई वस्तु को (अपि) भी (शक्तितः) शक्ति अनुसार (कृशयेत्) कृश करे॥62॥

**भावार्थ-**देश काल अपनी शक्ति तथा अपनी जाति के विचार से अपनी इच्छा को संतोष भावना से निग्रह करके घर, क्षेत्र, धन-धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयनासन, यान, कुप्य, भाण्ड आदि दश प्रकार के बाह्य परिग्रह या यावज्जीव परिमाण करे। तथा तत्पश्चात् परिमित वस्तु का भी अपनी शक्त्यनुसार कृश करने का प्रयत्न करे॥62॥

परिग्रह के प्रति वक्रोक्ति से दूषण देते हुए कहते हैं-

**अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः।**

**आरंभमकराम्भोधिरहो श्रेयः परिग्रहः॥ (63)**

**अन्वयार्थ-**(अहो) आश्चर्य है (अविश्वासतमोनक्तं) अविश्वासरूपी अंधकार की रात्रि (लोभानलघृताहुतिः) लोभरूपी अग्नि के लिए घृत की आहुति (आरम्भकराम्भोधिः) आरंभरूपी मगर-मच्छ के लिए समुद्र ऐसा (परिग्रहः) परिग्रह (श्रेयः) कल्याणकारी है? (अपितु न) यह कभी भी नहीं॥63॥

**भावार्थ-**ग्रंथकार खेद प्रकट करते हुए कहते हैं अहो आश्चर्य है-जो दुःख का कारण होने से अविश्वासरूपी अंधकार के लिए रात्रि के समान है, चित्त में संताप का कारण होने से लोभरूपी अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए घृत की आहुति के समान है, त्रास, रोग आदि का निमित्त होने से कृषि आदि आरंभरूपी जलचर जीवों के रहने के लिए समुद्र के समान है, ऐसा परिग्रह क्या पुरुषों का कल्याण करने वाला है। अर्थात् किसी भी काल में कल्याणकारी नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह है कि धन पास में आने से अविश्वास उत्पन्न होता है, पिता पुत्र का तथा पुत्र पिता का भी विश्वास नहीं करता है, धन से लोभ बढ़ता है तथा कृष्यादि आरंभ करने पड़ते हैं।

परिग्रहपरिमाणुव्रत के पंचातिचारों के निषेध का वर्णन करते हैं-

**वास्तुक्षेत्रे योगाद्धनधान्ये बन्धनात्कनकरूप्ये।**

**दानात्कुप्ये भावान्न गवादौ गर्भतो मितिमतीयात्॥ (64)**

**अन्वयार्थ-**परिग्रहपरिमाणव्रत को पालने वाले श्रावक (योगात्) वास्वन्तर तथा क्षेत्रान्तर के संयोग से (वास्तुक्षेत्रे) वास्तु और क्षेत्र में (बंधनात्) बंधन से बंधन का आश्रय करके (धनधान्ये) धन तथा धान्य में (दानात्) दान से दान का आश्रय करके (कनकरूप्ये) सुवर्ण और चाँदी में (भावात्) परिमाणांतर वा अभिप्राय का आश्रय लेकर (कुप्ये) सुवर्ण, चाँदी को छोड़कर आदि संपूर्ण पदार्थों में तथा (गर्भतः) गर्भ का आश्रय लेकर (गवादौ) गाय, बैल आदि में (मितिं) परिग्रहपरिमाणुव्रत की मर्यादा को (न अतीयात्) उल्लंघन नहीं करे॥64॥

**भावार्थ-**घर के साथ दूसरे घर को मिलाकर, खेत से दूसरे खेत को जोड़कर-धन और धान्य की बंधी बाँधकर अर्थात् रज्वादि से नियत करके सुवर्ण और चाँदी की मर्यादा को, अपने इष्ट मित्रों को देकर, सुवर्ण और चाँदी से भिन्न संपूर्ण वस्तुओं को

कुप्य कहते हैं। उनको मर्यादा अवस्थान्तर करके अथवा प्रतिज्ञा के अभिप्राय को बदल करके, घोड़ी, गाय आदि की मर्यादा में अधिक लोभ से गर्भवती घोड़ी आदि रखकर, मर्यादा के अतिक्रम से परिग्रहपरिमाणव्रत में अतिचार नहीं लगाना चाहिए।

वास्तुक्षेत्रातिचार, धनधान्यबंधनातिचार, कनकरूप्यदानातिचार, कुप्ये भावातिचार और गवादौ गर्भातिचार के भेद से परिग्रहपरिमाणव्रत के अतिचार पाँच प्रकार के होते हैं।

वास्तुक्षेत्रातिचार-वास्तु का अर्थ, घर, ग्राम, नगर आदि है। उसमें से खात, उच्छ्रित और खातोच्छ्रित-भेद से घर तीन प्रकार के होते हैं। खात-भूति, घर आदि को खात कहते हैं, उच्छ्रित-प्रासाद आदि को उच्छ्रित कहते हैं तथा भूमि, घर के ऊपर बनाये हुए घर को खातोच्छ्रित कहते हैं।

सस्योत्पत्ति के भूमि को क्षेत्र कहते हैं। वह क्षेत्र भी सेतु, केतु और सेतुकेतु के भेद से तीन प्रकार का होता है। जिनकी सिंचाई आकाश के पानी से होती है उनको 'केतुखेत' कहते हैं और जितनी सिंचाई आकाश के भी पानी से होती है और कुएँ के पानी से भी की जाती है उनको 'सेतुकेतु' खेत कहते हैं। इस प्रकार के वास्तु और क्षेत्र को यहाँ वास्तु कहते हैं। इन दोनों शब्दों का समास करके वास्तुक्षेत्र एक शब्द इसलिये बनाया है कि आगम में प्रत्येक व्रत के अतिचार पाँच-पाँच बताये हैं इसलिये इन दस परिग्रह के वाचक वास्तु क्षेत्र आदिक पाँच शब्द बनाये हैं।

जिन श्रावक ने जन्म पर्यंत तथा नियत काल तक को घर व खेत की मर्यादा, देव, गुरु और शास्त्र के साक्षीपूर्वक ली है उस मर्यादा का, घर से घर जोड़कर और खेत की बारी काट करके, खेत से खेत जोड़कर उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अर्थात् इस प्रकार के भाव से वह मर्यादा बढ़ाता है कि हमने तो केवल अपने घर को अथवा खेत को बढ़ाया है, मर्यादा के समय जितने घर वा खेत रखे थे उनकी संख्या का उल्लंघन नहीं किया, इस प्रकार से व्रत की अपेक्षा रखने से अभंग और भावों से परिग्रह की उसने वृद्धि की है इसलिये व्रतभंग होने से वास्तुक्षेत्रयोग नाम का प्रथम अतिचार होता है।

धनधान्यबंधनातिचार-गणिम धरिम, मेय और परीक्ष्य के भेद से धन चार प्रकार का है। जो चीजें गिनकर ली दी जाती हैं जैसे सुपारी, जायफल आदि उनको 'गणिम' कहते हैं। कुंकुम, कपूर आदि को 'धरिम' तथा तेल, नमक आदि को

“मेय” और रत्नादिक को “परीक्ष्य” कहते हैं। धान्य ब्रीह्यादि के भेद से 15 प्रकार का होता है। उक्त च-

**व्रीहिर्यबो मसूरो गोधूमो मुद्गमाषतिलचणकाः।**

**अणवह प्रियंगुकोद्रवमयुष्टिकाशालिराढव्यः॥ (1)**

व्रीहि, जवा, मसूर, गेहूँ, मूँग, उड़द, तिल, चना, अणु, कोद्रव, मोठ, शालि, तूर, मटर और कुलथ यह पंद्रह प्रकार के धान्य होते हैं। हमारी सुपारी, जायफल आदि की बिक्री जब हो जायेगी अथवा खर्च हो जायेगा तब तुम्हारा माल खरीदूँगा, मेरे इतने का परिमाण है अतः इसके बिकने के बाद व खर्च होने के बाद सुपारी वगैरह तुम्हारी ही खरीदूँगा तुम बेचना नहीं, इस प्रकार से दूसरे के माल की बंदनी बाँधकर श्रावक को धनधान्य की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यदि उल्लंघन करेगा तो धनधान्यबन्धनातिचार होगा।

**कनकरूप्यदानातिचार**—एक गृहस्थ ने सोने, चाँदी व सोने-चाँदी की बनी हुई चीजों की कुछ काल तक मर्यादा कर ली, इतने में राजा वगैरह ने उस पर संतुष्ट होकर उसकी मर्यादा से अधिक सुवर्ण और रूप्य का इनाम दिया। ऐसी स्थिति में व्रती ने किसी दूसरे से कहा कि भाई, हमारी इन चीजों को जब तक मेरी मर्यादा है धरोहर रूप में रख लो, मैं अपनी मर्यादा का काल पूरा होने पर उठा लूँगा, अथवा अधिक सोना, चाँदी मिला है तो उसे अपने इष्ट बांधवों को दे देना, इस प्रकार से सुवर्ण और रूप्य का दान करके की हुई मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए अन्यथा कनकरूप्यदानातिचार लगेगा।

**कुप्ये भावातिचार**—सोने-चाँदी से भिन्न, जैसे ताँबा आदि धातुओं की चीजों को, बाँस की बनी चीजों को, लकड़ी व मिट्टी से बनी चीजों को ‘कुप्य’ कहते हैं, उनमें से दो-दो को मिला एक-एक करने को “भाव” कहते हैं। ऐसा करके कुप्य संबंधी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए, अथवा सुवर्णादिक के समान ही इन चीजों की भी अधिक प्राप्ति हो जाये तो किसी से जाकर यह कहना कि इतने काल तक मेरे इन चीजों का परिमाण किया हुआ है सो मैं ले नहीं सकता, आप धरोहर रख लीजिये, मेरी मर्यादा का काल पूरा होने पर मैं उठा ले जाऊँगा, इस प्रकार का भाव याने अभिप्राय से की हुई मर्यादा का श्रावक को उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यदि उसके द्वारा उल्लंघन किया जायगा तो यह उसे चौथा अतिचार लगेगा। अथवा कुप्य-

सोना-चाँदी को छोड़कर काँसी, लोहा, ताँबा, शीशा, त्रपु, मिट्टी के बर्तन, बाँस की बनी हुई चीज, दंकी का कण्ठ, पलंग छोटी पलंग, मसूर, रथ गाड़ी आदि सब कुप्य कहलाते हैं। उन कुप्य में जितनी संख्या की प्रतिज्ञा ले रखी है उसकी जब संख्या बढ़ने लगी तो उनमें कई चीजों को मिलाकर (ढलवाकर) संख्या की रक्षा के लिए बड़ी चीजें बनवा लेना भी अतिचार है, क्योंकि संख्या यद्यपि मर्यादित रही परन्तु उनकी स्वाभाविक संख्या में ढलवा लेने से बाधा जरूर आती है इसलिये कथंचित् अभंग और भंग के होने से यह कुप्यभावातिचार है।

अथवा किसी चीज के लाने वाले से यह कहना कि मुझे यह जरूर लेना है, परन्तु इसे मेरी मर्यादा के बाहर होने से आज नहीं ले सकता, तुम किसी को बेचना नहीं, मेरी मर्यादा का काल पूरा होते ही मैं इसे जरूर लूँगा। इस प्रकार से मन में संख्या की वृद्धि का भाव आ जाने से भी अतिचार होता है यह भी कुप्य भावातिचार है।

**गवादौ गर्भतातिचार**—यहाँ भैंस, हाथी, घोड़ा, तोता, मैना, दासी, दास आदि का ग्रहण “गवादौ” में आदि ग्रहण से समझना चाहिए। इन गाय, भैंस आदि में गर्भ धारण करने पर परिग्रहपरिमाणव्रत की संख्या का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

जो गाय, भैंस आदि अपनी मर्यादा के भीतर हैं उनके भी गर्भधारण को 4-6 महीने के लिए टालना कि यदि मैं अभी इनका गर्भ धारण करा सकता हूँ तो इनकी संख्या बढ़ जायगी और इससे मेरा व्रतभंग हो जायेगा। इसलिये अभी इनके गर्भधारण को टालकर कुछ काल के अनन्तर गर्भधारण कराना चाहिए। जिससे जब ये जानवर बच्चे जानेंगे, इस समय अपना नियम पूरा हो जावेगा। अतः उनके रख लेने में हमें फिर दोष नहीं लगेगा। इस प्रकार के परिणामों से भी संख्या में अतिचार नहीं लगाना चाहिए। यह “गवादौ गर्भतातिचार” है।

यह “क्षेत्रवास्तुसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः” इस सूत्र में बताये अतिचारों का वर्णन हुआ। स्वामी “समन्तभद्र” ने तो-

**अतिवाहनातिसंग्रह विस्मयलोभातिभारदहनानि।**

**परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपाः पंच कथ्यन्ते॥**

जानवर या मजूर की शक्ति का ध्यान न करके लोभ के कारण अधिक दूर तक ले जाना या अधिक काल तक जोतना प्रथम अतिचार कहा है। आगे अधिक लाभ होगा। इसलिये धान्यादिक का अधिक काल तक संग्रह करना “अतिसंग्रह”



नाम का अतिचार है।

किसी को धान्यादि के रखने या बेचने से अधिक नफा हुआ है, इस बात का मन में विचार करना कि मैंने नहीं खरीद पाया। यदि मैंने भी रखा होता तो आज मैं भी क्या नफा नहीं पाता? अथवा इसने अभी खरीदा और थोड़े ही काल में अधिक लाभ प्राप्त किया है, इसका विषाद करना, इस प्रकार लोभ के कारण यही तीसरा अतिचार होता है। विशिष्ट अर्थ के मिलने पर भी अधिक लाभ के मिलने की इच्छा को “लोभ” नाम का चौथा अतिचार कहते हैं। अर्थात् और देर से बेचते तो बहुत अच्छा होता। इस प्रकार का “नफा के मिलने पर भी लोभ का भाव रखना” “लोभ” नाम का अतिचार है। लोभ के आवेश से भाड़े के जानवर या घर के लदने वाले या भार ढोने वाले जानवरों या पल्लेदारों पर मर्यादा से अधिक बोझ लादना “अतिभारोपण” नाम का पाँचवाँ अतिचार है। श्री सोमदेवाचार्य के मत से तो-

**कृतप्रमाणाहोभेन धनाद्यधिकसंग्रहः।**

**पञ्चमाणुव्रतहानिं करोति गृहमेधिनाम्।।**

अर्थात्-अतिलोभ के कारण, किए हुए प्रमाण से अधिक धन के संग्रह करने को, गृहस्थों के परिग्रहपरिमाणव्रत का अतिचार बताया है। सो इन सब अतिचारों को भी “परोप्यूह्यास्तथात्यया” इसी अध्याय में कहे हुए वाक्य के अनुसार अतिचार समझना चाहिए। अर्थात् 5 अतिचार प्रत्येक व्रत के बताए हैं सो यह केवल उदाहरणार्थ हैं। ऐसे दूसरे भी अतिचार जो संभव हो उनका भी परित्याग करना चाहिए।

## **आध्यात्मिक भाव-व्यवहार बिना मनुष्य पशु से भी नीच**

**(आध्यात्मिक ‘मैं’ के श्रद्धान-अनुभव बिना जीव अधार्मिक)**

वैश्विक धरा में जाज्वल्यमान आध्यात्मिक विभूति संत वैज्ञानिक श्रमणाचार्यश्री कनकनन्दी जी गुरुदेव ससंघ के निस्पृह-निराडम्बर गतिमान चातुर्मास स्थल ग्राम नन्दौड़ (राज.) में मेवाड़ अञ्चल के प्रायः 6-7 गाँवों से पधारे दर्शनार्थियों को संबोधित करते हुए आचार्यश्री ने मनुष्य जन्म की दुर्लभता का बोध कराते हुए कहा कि श्रेष्ठ कौन? जो आत्म कल्याण करता है। आत्म-विद्या के कारण हम विश्व गुरु रहे, किन्तु अभी हमारा भारत सबसे पतित देश है, इसका कारण आध्यात्मिक ‘मैं’ को न जानने से आज भारत भ्रष्टतम देश बना हुआ है। हमारा समस्त तंत्र अर्थात् धर्म-

शिक्षा-राजनीति-संविधान-कानून विषमता व विकृति से सराबोर है। भौतिकवादी पाश्चात्य विदेशी जन बुद्धि-संपत्ति को अधिक महत्त्व न देते हुए संवेदनशील नैतिक से लेकर आध्यात्मिक विचारों को अधिक प्रधानता देते हैं।

गुरुदेव ने कहा जो आत्मा को नहीं जानता वह सबसे ही अधम है। आध्यात्मिक भाव-व्यवहार के बिना मनुष्य पशु से भी नीच है, क्रूरतम निकृष्ट प्राणी है, यह विषय आगम से लेकर आधुनिक विज्ञान भी सिद्ध कर चुका है। जो अपने स्वभाव रूप समता-सुख-शांति से विपरीत भाव-व्यवहार करते हैं वे ही निश्चय से आत्महंता हैं। अतः हमें शिक्षा-धर्म-धन व आधुनिकता की विकृतियों से बचते हुए सत्य आत्म द्रव्य तत्त्व को जानना-मानना ही हितकर है। मेवाड़-बागड़ की संस्कृति यहाँ के पहाड़ों से सुरक्षित है, यहाँ पर बुद्धिलब्धि (I.Q.) व धन विशेष न होते हुए भी यहाँ के जन-गण-मन हृदयवान् (E.Q.) हैं। अतः इस उपलब्धि व गुण को जानकर आप सत्य-तथ्य पूर्ण आध्यात्मिक भाव-व्यवहार से प्रगतिशील व सुखी बनें, ऐसा भावभीना आशीर्वाद व शुभाकांक्षा पूज्यश्री ने प्रदान किये। इस अवसर पर गुरुदेव के वैज्ञानिक शिष्य डॉ. एस.एल. गोदावत ने गुरुदेव के व्यक्तित्व-कृतित्व की अलौकिकता व अद्वितीयता के प्रति अपनी शुभ भावना व श्रद्धा व्यक्त की। चातुर्मासकर्ता श्री प्रवीणचन्द्र जी शाह ने भी इस चातुर्मास के शांतिपूर्ण निराडम्बर स्वरूप की उपलब्धि से अत्यंत प्रसन्नता व्यक्त की। शुभाकांक्षासह-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

## परम सत्य व स्व-आत्मा को जाने-माने व प्राप्त करे विश्व मानव

-आचार्य कनकनन्दी

अरावली की उपत्यकाओं में स्थित वाग्वर अञ्जल के सांस्कृतिक लघु ग्राम नन्दौड़ में चातुर्मासरत आध्यात्मिक वैज्ञानिक संत प्रवर आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव ससंघ की निश्रा में उदयपुर से पधारे अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक त्रय 1. डॉ. नारायणलाल कछारा, 2. डॉ. पारसमल अग्रवाल, 3. डॉ. श्यामलाल गोदावत द्वारा विविध ब्रह्माण्डीय रहस्य के विषयों की चर्चा-चिन्तन-मंथन-पृच्छना-काव्य गायन आदि प्रस्तुति सह रोचक-प्रतिप्रश्नात्मक जिज्ञासात्मक-आनंददायी सत्र सम्पन्न हुआ। सर्वप्रथम आचार्य श्रीसंघ के वंदन-नमन-सुख साता पृच्छा के पश्चात् आचार्यश्री ने

स्व-रचित साहित्य प्रदान कर अभ्यागतों को उपकृत किया। लघु ग्राम नन्दौड़ में स्थित केवल एक दिगम्बर जैन परिवार द्वारा आयोजित इस निराडम्बर, निस्पृह, आध्यात्मिक आनंद स्वरूप चातुर्मास की विशेषता व उपलब्धियों को सुनकर व देखकर आगन्तुक विज्ञानियों ने अत्यंत प्रसन्नता व अनुमोदना का भाव दर्शाया।

स्व-सृजित विविध कविताओं के माध्यम से गुरुदेव ने विभिन्न विषयों के शोधपूर्ण रोचक गूढ़ रहस्यात्मक आयामों से व्यापक वैश्विक समाधान करके साधु-साध्वी श्रीसंघ व वैज्ञानिक शिष्यों को आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक आनंदपान कराया। परम सत्य व स्व-आत्मा को जानने-मानने व प्राप्त करने हेतु समस्त सीमा व बंधनों को पार कर उपलब्धि करने हेतु पूज्यश्री ने आह्वान किया। गुरुदेव ने स्वयं को विश्वगुरु सर्वज्ञदेव के महानतम विश्वविद्यालय का छोटा-सा विद्यार्थी बताते हुए सनम्र सत्यग्राही उदार व सहिष्णु बनने हेतु प्रेरित व प्रोत्साहित किया।

वर्तमान में देश-विदेश के साहित्य व मीडिया में जो विषय जैसे-स्वास्थ्य, कानून, राजनीति, उच्च विज्ञान, मनोविज्ञान से लेकर आध्यात्म आदि के बारे में जो शोध-बोध हो रहा है, उन समस्त विषयों का पूर्व में ही गत 30-35 वर्षों से सृजित अपने प्रायः 250 गद्य-पद्यात्मक साहित्य में स्व-प्रज्ञा व अनुभव से आचार्यश्री ने समीक्षापूर्ण प्रस्तुतिकरण किया है। प्राचीन से लेकर आधुनिक ज्ञान व विज्ञान के सर्व विषयों पर आचार्यश्री ने अपना चिन्तन-मनन-लेखन व समीक्षा करने हेतु देश-विदेश के विश्वविद्यालयों से लेकर विश्व धर्मसंसद तक ज्ञानमार्ग की अद्वितीय प्रभावना की है। इस अवसर पर संघस्थ ब्र. खुशपाल जी व प्रवीणचन्द्र शाह ने भी ज्ञानानंद प्राप्त किया। शुभाकांक्षा सह-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

## “निराडम्बर चातुर्मास से हो रही धर्म प्रभावना”

वागड़ अंचल के अतिशय युक्त नंदौड़ ग्राम में विश्व के महाज्ञानी, स्वाध्याय तपस्वी, वैज्ञानिक, अन्वेषक, समतायोगी, वात्सल्यप्रेमी, सर्व हितकारी, सर्व मंगलकारी, ध्यानयोगी, आत्मलीन, आध्यात्मप्रेमी, आत्मानुभवी आचार्यश्री कनकनन्दी गुरुदेव ससंघ सान्निध्य में उदयपुर से पधारे सेक्टर-11 के श्रावक-श्राविका की उपस्थिति में धर्मसभा हुई। धर्मसभा का शुभारंभ श्रमण मुनि सुविज्ञसागर जी गुरुदेव ने आचार्यश्री रचित कविता से किया। मुनिश्री के मधुर कंठ से कविता गायन को सुनकर उपस्थित

श्रावकगण मंत्रमुग्ध हुए। मुनिश्री ने उदयपुर से नंदौड़ तक श्रीसंघ के मंगल विहार का वृत्तांत सुनाया। विहार के समय पूर्व नियोजित आसपुर पंचकल्याणक के प्रभावना युक्त प्रतिष्ठा महोत्सव का वृत्तांत भी सुनाया।

नंदौड़ में चातुर्मासकर्ता श्री प्रवीण कुमार जी ने निराडम्बर नवप्रयोगी सादगी से भरपूर चातुर्मास के बारे में लोगों को अवगत कराया। गुरुदेव के निर्देशानुसार उन्होंने किसी भी प्रकार की पत्रिका नहीं छपाई। गुरु दरबार सबके लिए हमेशा खुला है जो भी दर्शनार्थी आये उनका स्वागत है। उन्होंने यह भी बताया कि दीपावली के दिन वर्षायोग निष्ठापन हो रहा है परन्तु हम अभी उन्हें विहार नहीं करने देंगे। सपरिवार 2017 के चातुर्मास के लिए भी निवेदन किया है। उनकी पत्नी नंदा देवी ने कहा कि मेरी भावना है गुरु हमेशा मेरे गृहमंदिर में रहे और मैं हमेशा साधु-संघ को आहारदान दूँ।

गुरुदेव ने धर्मसभा को संबोधित करते हुए कहा-मेवाड़-वागड़ का सुरम्य प्राकृतिक वातावरण प्रदूषण रहित शांत वातावरण मेरी उत्कृष्ट साधना, ध्यान, अध्ययन, अध्यापन, लेखन, तप, आत्मविशुद्धि में सहायक है। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ वृक्ष को पल्लवित करती है। जड़ में पानी देने से ही वृक्ष हरा-भरा रहता है, पुष्पित होता है व फल देता है उसी प्रकार मेवाड़-वागड़वासी साधुओं को आहारदान देते हैं, उनकी निःस्वार्थ वैयावृत्ति आदि सेवा करते हैं जिससे साधु विश्व में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार कर पा रहे हैं। इस प्रभावना में आप लोग भी पुण्य के सहभागी हैं। गुरुदेव ने कहा बुद्धि के साथ भावना (संवेदना) का होना जरूरी है। 'भावना-भव नाशिनी, भावना भव वर्धिनी।' भावना संसार का नाश भी करती है व दुर्भावना संसार को बढ़ाती भी है।

उन्होंने कहा वर्तमान में अहंकार, दीनता, ईर्ष्या की भावना सबसे बड़ी बाधा है। धर्म में समर्पण, प्रेम-वात्सल्य, त्याग भावना आवश्यक है। आचार्यश्री ने कहा कि सेक्टर-11 में आयोजित 13वीं वैज्ञानिक संगोष्ठी के बाद हमारी उपलब्धि बढ़ी है, क्योंकि इस संगोष्ठी में सिद्ध किया गया कि 'धर्म, कानून, राजनीति, विज्ञान, संविधान से परे (आगे) है।' गुरुदेव ने स्व-हस्त से आगन्तुक उदयपुर निवासियों ने जो आहारदान, ज्ञानदान, स्वयंसेवा, वैयावृत्ति की उसके लिए प्रोत्साहन व आशीर्वाद स्वरूप प्रशस्ति-पत्र, डायरी, पेन, बैच आदि प्रदान किया। भूपेन्द्र, रोशनलाल, रतनपाल जी, नरेश, डॉ. सुरेश, मोहन जी, लक्ष्मी देवी, नयना, माँगी बाई सहित प्रायः 100 लोग आये थे।

इसी सभा में गुरुदेव द्वारा रचित “आदर्श जीवन गीताञ्जली” धारा-38 ग्रथांक 242 का विमोचन हुआ। प्रस्तुति-श्रीमती विजयलक्ष्मी (ग.पु. कॉलोनी)

## मेरी कविताओं के विषय व उद्देश्य (आत्महित व विश्व मंगलकारी ‘कनक’ की कविता)

-आचार्य कनकनन्दी

(चाल : छोटी-छोटी गैया....., तुम दिल की.....)

मेरी कविताएँ न केवल गाने के हेतु, मनोरंजन या भीड़ जुटाने हेतु।

नाम कमाना या धन कमाने हेतु, मेरी कविताएँ सत्य/(तथ्य) कथन हेतु॥

मेरी कविताएँ न प्रतिस्पर्द्धा हेतु, छंद अलंकार या वाक् विलास हेतु।

परनिन्दा अपमान हेतु न मेरी कविता, समता-शांति हेतु है मेरी कविता॥ (1)

कामुक श्रृंगार हेतु न मेरी कविता, संकीर्ण पंथ-मत परे मेरी कविता।

संकीर्ण राजनीति-भाषा-राष्ट्र से परे, मेरी कविताएँ सर्व बंधन परे॥

कोई माने या न माने (से) परे कविता, कोई गाये या न गाये परे कविता।

कोई जाने या न जाने से परे कविता, आत्म-संबोधन स्वान्त सुखाय कविता॥ (2)

भावना-अनुभव की अभिव्यक्ति कविता, कल्पना संवेदनशील मेरी कविता।

आत्मविशुद्धि आत्मविकास की कविता, सनम्र सत्यग्राही जिज्ञासु वृत्ति कविता॥

स्वाध्याय मनन हेतु बनी मेरी कविता, शुभोपयोग एकाग्रता हेतु बनी कविता।

स्व-पर-विश्व मंगलकारी मेरी कविता, गुणग्राही उदारमन युत कविता॥ (3)

अपेक्षा-उपेक्षा व प्रतीक्षा रिक्त, लंद-फंद-द्वंद रिक्त मेरी कविता।

समीक्षा समन्वय युक्त मेरी कविता, सर्वोदय-अन्त्योदय भाव युक्त कविता॥

अंधानुकरण नकल से रिक्त कविता, अज्ञान-मोह दूर हेतु बनी कविता।

निष्पक्ष सापेक्ष दृष्टि युक्त कविता, धर्म-दर्शन-विज्ञान संयुक्त कविता॥ (4)

प्राचीन-अर्वाचीन व पौर्वात्य-पाश्चात्य, शोध-बोध-खोज अनुभव से युक्त।

विविध विधाओं से युक्त मेरी कविता, आत्महित हेतु ‘कनक’ बनाये कविता॥ (5)

नन्दौड़, दिनांक 02.11.2015, रात्रि

# ज्ञानी-ध्यानी-स्वाध्याय तपस्वी गुरुवर की आरती

(चाल : मेरा मन डोले मेरा तन डोले.....)

(प्रस्तुतकर्त्री विजयलक्ष्मी व आनंदी जैन)

सहायक-आ. सुवत्सलमती

सरल स्वभावी की कनकनन्दी की, ले मंगल दीप जलाय हो  
मैं आज उतारूँ आरतियाँ।। (ध्रुव)

सत्यान्वेषी अनुशासन-प्रिय अध्यात्म योगी गुरुवर।  
विश्व में धर्म का डंका बजाकर, 'विश्व धर्म प्रभाकर'  
कहलाये, 'विश्व धर्म प्रभाकर।'  
ऐसे विश्वयोगी, समतायोगी की, जगमग दीप जलाय हो...  
मैं आज उतारूँ आरतियाँ।। (1)

कुंथु गुरु ने दीक्षा देकर, उपकार हम पर कीना।  
आगम ज्ञानामृत पीलाकर, विश्व पर उपकार कीना  
हो गुरुवर! विश्व पर उपकार कीना।  
वैज्ञानिकों के उपदेशी की, ले ज्ञान का दीप जलाय हो...  
मैं आज उतारूँ आरतियाँ।। (2)

स्वाध्याय-तपस्वी, ज्ञानी-ध्यानी, ज्ञान प्रसार करे हैं।  
मेवाड़-वागड़ में विहार करके, विश्व में ज्ञान प्रकाशे...  
गुरुवर! विश्व में ज्ञान प्रकाशे।  
आत्मानुभवी की, प्रकृति प्रेमी की, ले कंचन दीप जलाय  
हो! मैं आज उतारूँ आरतियाँ।। (3)

विरले ही जन, कनक गुरु को, सही समझ पाते।  
गुरुवर से आतम रस पीके, 'मैं' (स्व) का ज्ञान है करते...  
गुरुजी! 'मैं' का ज्ञान है करते।  
अध्यात्म की, शुद्धात्म की, ले ज्ञान का दीप जलाय  
हो! मैं आज उतारूँ आरतियाँ।। (4)

पुनर्वास कॉलोनी, दिनांक 04.11.2015

# शिक्षागुरु आचार्य कनकनन्दी जी के लिए शिष्य आचार्यश्री कुमुदनन्दी जी का पत्र

श्री वीतरागाय नमः

हे! वैज्ञानिक धर्माचार्य प्रातः स्मरणीय परोपकारी आध्यात्मिक इस सदी के महान् संत, श्रमणाचार्य जन-जन के हितकारी, परम दयालु कृपा निधान परम गुरुदेव मेरे अंतरंग के प्रामाणिक आचार्य कनकनन्दी जी गुरुदेव के पावन चरण-कमलों में तुच्छ शिष्य का सिद्धश्रुताचार्य भक्तिपूर्वक त्रिकाल त्रिवार नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु...

अन्यान्य श्रमण महा-मुनिराजों तपस्वियों ज्ञानियों ध्यानियों सुविज्ञसागर एवं श्रमण मुनि अध्यात्मनदी जी को यथायोग्य प्रतिनमोस्तु।

हे गुरुदेव! आपके कृपाशीर्वाद से मैं बहुत कुशल मंगल हूँ, इसी सद्भावना के साथ मैं क्या बताऊँ क्या हूँ कैसे कहूँ इतनी जल्दी ठीक स्वस्थ हो गया हूँ इसी प्रकार का कृपा आशीर्वाद सदा बनाये रखे। यहाँ के वैद्यराज भी चकित रह गये इतनी जल्दी ठीक कैसे हो गये जब जगत् की समस्त दवाओं का अंत आ जाता है, तब गुरुदेव की दुआ काम आती है। वही हुआ अन्यान्य गुरुदेवों की सद्भावनाएँ विशेष कर आपकी उत्कृष्ट भावना रही क्योंकि इतनी जल्दी यह लकवा ठीक होने वाला नहीं था परन्तु आपकी परमौषधि रूपी अमृत वाणी हमारे लिए पीयूष का काम कर गयी और अत्यंत अल्प समय में ठीक हो गया हूँ। आपको भी विश्वास नहीं होगा कि इतनी जल्दी ठीक हो सकता है? लकवा। परन्तु गुरु भक्ति जिन भक्ति में वह ताकत है। निधत्ति, निकाचित जैसे कर्म भी शिथिल पड़ जाते हैं तब यह शारीरिक रोगों की क्या मजाल।

आपकी भेजी हुई तीन पुस्तकें मिल गयी हैं अत्यंत खुशी हुई।

आपका शिष्य-आचार्य कुमुदनदी

## ज्ञान-विज्ञान-आध्यात्मिक जागृति की होली मनी

वाग्वर अञ्चल के धार्मिक ग्राम ग.पु. कॉलोनी, सागवाड़ा में परम पूज्य वैज्ञानिक संत प्रवर आचार्यश्री कनकनन्दी जी गुरुदेव ससंघ के दीर्घकालिक प्रवास से यहाँ के आबाल-वृद्धजनों में ज्ञान-विज्ञान के प्रति सराहनीय रूचि व आध्यात्मिक जागृति से

आचार्यश्री संघ व अञ्जल के श्रद्धालुजनों में एक अपूर्व आह्लाद व उत्साह का संचार हो रहा है। स्थानीय पुरुष-महिलाएँ व बच्चे-बच्चियाँ आचार्यश्री संघ से स्वाध्याय-आहारदान-ज्ञानदान-वैयावृत्ति-सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेकर ज्ञानार्जन-पुण्यार्जन करते हुए भावनात्मक क्रांति कर ज्ञानी-गुणी-कलावन्त हो रहे हैं।

होली पर्व के उपलक्ष्य में आचार्यश्री ने बड़ी संख्या में उपस्थित जनों को संबोधित करते हुए पर्व मनाने का कार्य-कारण विज्ञान पैराणिक से लेकर आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समझाते हुए अपनी स्वरचित कविता “मुनिसंघ की अलौकिक-पावन होली” के माध्यम बताया कि पर्व प्रेम-संगठन-मैत्री-शांति बढ़ाने हेतु उत्साह से मनाना चाहिए न कि फैशन-व्यसन-उद्वण्डता हेतु। इस अवसर पर आचार्यश्री सृजित चार गीताञ्जली-1. “मैं (अहं) आध्यात्मिक गीताञ्जली, धारा-42”, 2. “आध्यात्मिक रहस्य गीताञ्जली, धारा-43”, 3. “धर्म-अधर्म गीताञ्जली, धारा-44”, 4. “निन्दा-पुराण गीताञ्जली, धारा-45” का विमोचन ज्ञानदानियों के हस्ते सम्पन्न हुआ। मंगलाचरण व दीप प्रज्ज्वलन के पश्चात् स्थानीय बालक-बालिकाओं ने गुरुदेव सृजित कविताओं पर आधारित गीत व नृत्य-अभिनय की सुंदर प्रस्तुति की, जिसे देखकर आचार्यश्री ने सभी को स्वरचित साहित्य आदि देकर पुरस्कृत किया। विशेष उपलब्धि यह रही कि सभी बालक-बालिकाओं को जो नगद पुरस्कार प्राप्त हुआ वह सभी ने मिलकर आचार्यश्री के ग्रंथ प्रकाशन हेतु ज्ञानदान कर अपनी भक्ति व उदारता का परिचय दिया। मंच संचालन संघस्थ ब्रह्मचारी सोहनलाल जी देवड़ा ने किया, इसमें श्रीमती विजयलक्ष्मी गोदावत ने भी सहयोग किया।

शुभाकांक्षा सह-श्रमण मुनि सुविज्ञसागर